सिद्ध योग

संस्थापक संरक्षक एवं सम्पादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

अगस्त १९७७
वर्ष १० अंक ५

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सेंवाई, आगरा

प्रकाशक

इस अंक में—

क्रम संख्या	लेख	लेखक	पृष्ठ
१.	निःसीमतमंप्रदम्	....	१
२.	योग एवं वृत्ति सारूप्य (हमारा विशेष लेख)	योगयोगेश्वर अनन्त-श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	३
३.	योग एवं दुःख-वियोग	आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा	५
४.	एक चिन्तन	श्री किशोरीलाल शास्त्री	१३
५.	श्रीमद्भगवद्गीता एवं योग	श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री	१७
६.	क्रिया योग	श्री गिरीशदेव वर्मा	२७
७.	मानस-ज्ञान, गीता-ज्ञान (कविता)	साहित्य वाचस्पति श्री गौरीशंकर द्विवेदी	३१
८.	'सिद्धयोग' की साधना व उपलब्धि	श्री डा० विजयसिंह	३२
९.	प्रत्याहार क्यों एवं कैसे	ब्रह्मचारी श्री गोरेन्द्रस्वरूप	३६
१०.	पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्	संकलित	४२
११.	आदर्श गुरु-भक्त डा० कुन्नीराम अग्रवाल	श्री गुरुदेव जी द्वारा	५५
१२.	पश्चिमियों की ईश्वर-परक दृष्टि	श्री राघवेन्द्र तिवारी	४७
१३.	ज्ञान का निरूपण	टाइटिल	४

वार्षिक मूल्य १५ रु०, एक प्रति १.५० पैसे मात्र

संयुक्त सम्पादक
दिव्य
फोन ६३१६८

सिद्ध योग

वर्ष १०
अङ्क ५

स्वार्थं स्यात यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थं बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशम्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥

अगस्त
१९७७

❀ निःसीमशर्मप्रदम् ❀

नायं ते समयो रहस्यमधुना निद्राति नाथो यदि
स्थित्वा द्रक्ष्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु येषां वचः॥

चेतस्तानपहाय याहि भवनं देवस्य विश्वेशितु-
र्निर्दौवारिकनिर्दयोक्त्यपरुषं निःसीमशर्मप्रदम्॥

अर्थात्

रे मन ! जिनके द्वार पर द्वारपाल भिक्षुकों से यह कहते हैं कि यह समय तुमसे मिलने का नहीं है, महाप्रभु इस समय एकान्त में सो रहे हैं। यदि उठने के बाद बाहर आकर तुमको यहाँ बैठे देखेंगे तो वे क्रुद्ध हो जायेंगे। ऐसे मदोन्मत्त महाप्रभुओं के पीछे अपने जीवन को नष्ट न कर। देवाधिदेव विश्वेश्वर की शरण में जाओ, वहाँ न कोई रोकने वाला है, न कोई कठोर वचन कहने वाला है, बल्कि असीम सुख देने वाला है।

हमारा विशेष लेख—

योग एवं वृत्ति सारूप्य

◉ योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योग-दर्शन के प्रणेता भगवान पतंजलि ने 'योग-दर्शन' के प्रारम्भ में ही 'अथ योगानुशासनम्' इस सूत्र के बाद दूसरे सूत्र 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' कहकर योग की सही परिभाषा की है। योगाभ्यास करने वाला साधक क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़ एवं एकाग्र रूप चित्त भूमिकाओं से निकलकर निरोधावस्था को प्राप्त होता है, यही जीवात्मा की कैवल्य स्थिति है। दूसरे शब्दों में इसी का नाम निर्बीज समाधि एवं स्वरूप स्थिति है। निरोध-समाधि में जीवात्मा किस स्थिति में रहा करता है, इसका स्पष्ट निर्देश करते हुए भगवान पतंजलिदेव ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' अर्थात् समाधि-स्थिति में जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित रहा करता है।

स्वरूप-स्थिति क्या है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए भगवान व्यासदेव ने इस सूत्र के भाष्य में प्रश्नोत्तर रूप में लिख दिया है—

स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीम् चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये, अर्थात् तदानीं स्थितौ स्वरूपप्रतिष्ठा तादृश-जीवस्थी यथा कैवल्ये चिद्शक्तिर्भवति।

अर्थात् उस निरोध-समाधि—जिसका नाम निर्बीज-स्थिति व स्वस्वरूपावस्थान भी वर्णन किया गया है उसमें चित् शक्ति अर्थात् जीवात्मा किस स्थिति में रहा करता है।

इसका उत्तर भी केवल दो ही शब्दों में दे दिया है—'यथा कैवल्ये' यानी मोक्षमें जीवात्मा जैसा हुआ करता है।

इसी का नाम 'स्वरूपस्थिति' कहा गया है, इस स्थिति में पहुँचने पर जीवात्मा के सब दुःख द्वन्द्व छूट जाते हैं और उसका स्वरूपाव-स्थान हो जाता है। यहां पर एक प्रश्न पैदा होता है कि हमारे शास्त्रों में एवं श्रीमद्भगवद्-गीता में अखिल लोक पावन जगदात्मा श्रीकृष्ण ने आत्मा को अछेद्य, अग्राह्य कहकर इसको विकार रहित बतलाया है। यथा—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि,
नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो,
न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्यो,
ऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुर-
चलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम-
विकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं,
नानु शोचितुमर्हसि॥

यानी जब इस आत्माको शस्त्र काटते नहीं है, अग्नि जलाती नहीं है, पानी इसको गीला नहीं करता, वायु इसको सुखा नहीं सकता, यह अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य एवं अशोष्य है। एवं यह सर्वत्र ओत-प्रोत रहने वाला नित्य और सनातन है।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानु शोचितु मर्हसि

'इसलिये हे अर्जुन ! तुम कोई चिन्ता मत करो।' जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण के उपरोक्त उपदेश को सुनकर एवं अन्यान्य औपनिषदिक सिद्धान्तों को समझकर आत्मा की स्थिति निर्विकार एवं सब प्रकार से शुद्ध है ऐसा कहा है। किन्तु योग-दर्शन के 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' पर भाष्य लिखते हुए समाधि में आत्मा की स्वरूपस्थिति बतला करके 'व्युत्थान चित्ते तु सति तथापि भवन्ती न तथा', अर्थात् व्युत्थान चित्त में चित्त शक्ति अछेद्य अभेद्य रहते हुए भी वैसी नहीं होती, क्योंकि वह दर्शित-विषया बन जाती है। इस स्थिति को भगवान पतंजलिदेव ने 'वृत्ति सारूप्य' कहा है। यथा 'वृत्तिसारूप्य मितरत्र' अर्थात् इतरत्र व्युत्थानावस्था में चैतन्य आत्मा वृत्ति सारूप्य हो जाता है, निरोध जैसी स्थिति नहीं रहती। ऐसी स्थिति में विकार-रहित शुद्ध चेतन आत्मा विकारी सा दीखने लगता है और वह अपने सब कार्य बुद्धि-बोध के अनुसार किया करता है। स्वरूपोपलब्धि हो के बहुत से उपायों का वर्णन हमारे शास्त्रों में मिलता है, किन्तु ऊँची ऊँची ज्ञान भूमिकाओं एवं निर्बीज समाधि में भी पहुँच जाने के बाद भी ज्योंही चेतन-शक्ति बुद्धि-बोध को प्राप्त होती है, त्योंही वह वृत्ति सारूप्य होने से, जैसे जिसकी अन्तःकरण की वृत्ति होती है वैसे ही वह प्राणी चेष्टायें करने लगता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने इसका संकेत 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' कह कर दिया है। 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति', अर्थात् ज्ञानी पुरुष भी अपने आपको नित्य शुद्ध-बुद्ध मानते हुए भी जैसा उसका बुद्धि-बोध है वैसी हरकतें किया करता है।

यही कारण है कि बड़ी ऊँची स्थिति को प्राप्त हुए महात्माओं के चरित्र उनकी अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार दिखलाई देते हैं। भगवान श्रीराम की मर्यादा-पुरुषोत्तमता जगदात्मा श्रीकृष्ण की लीला-पुरुषोत्तमता उनकी अपनी अपनी स्वीकार की गई प्रकृति की परिचायक है। मेरे गुरुदेव योगयोगीश्वर श्री रामलाल जी महाराज वृत्ति सारूप्य का पूरा पूरा स्वरूप समझा देने वाला एक उदाहरण अपने मुखारविन्द से बतलाया करते थे। वृत्ति सारूप्य के स्वरूपको समझाने के लिए मैं उसको यहां लिख देना उचित समझता हूँ :—

सुन्दरसिंह डाकू का उदाहरण

ऋषिकेश से लगभग ७ या ८ मील ऊपर भगवती भागीरथी के पवित्र तट पर ब्रह्मपुरी नाम का एक जंगल है। हिमालय की यात्रा करते हुए सबसे प्रथम ऋषिकेश से चलने के बाद मेरे गुरुदेव योगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज ने कुछ समय इस जंगल में निवास किया था। जिन दिनों श्री प्रभु जी इस बन में निवास किया करते थे उन्हीं दिनों महात्मा कृपालानन्द नाम के एक सिद्ध योगिराज भी यहां निवास करते थे। उन्होंने अपने आपको

शिवमय बना लिया था। भगवान शिव की शक्तियों पर उनका पूर्ण अधिकार था। वे महात्मा अणिमादिक ऐश्वर्यों से सब प्रकार से परिपूर्ण एवं कर्तुमकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् की ताकत वाले सर्व समर्थ महात्मा थे। उन्हीं दिनों सुन्दरसिंह नाम का एक डाकू कहीं से डाका डालकर कई हजार का सुनहरी जेवरात लूटकर ले आया था। वह चाहता था कि उस कीमती जेवर को कहीं जंगल में छुपा दे और समय आने पर पुनः वहां से निकाल ले जाय। उस डाकू का कोई पूर्व पुण्य उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप कहीं से घूमते हुए योगिराज श्री कृपालानन्द जी भी अकस्मात् उधर आ निकले। उन्होंने उस डाकू की इस क्रिया को देख लिया और उससे कहा कि—तू यह क्या कर रहा है ! डाकू ने जवाब दिया कि—महाराज मैं डाकू हूँ। डाका डालकर कुछ धन यहां ले आया हूँ और उसको यहां दबा रहा हूँ, ताकि कालान्तर में आवश्यकता पड़ने पर मैं यहीं से निकाल ले जाऊँ। महाराज ! मैं डाकू हूँ और यह मेरी वृत्ति है। योगिराज श्री कृपालानन्द जी को उसकी सत्यवादिता एवं विनय पर स्वाभाविक प्रसन्नता आ गई और उन्होंने कहा कि डाकू क्या तू हमारी आज्ञा से इस कुकर्म को छोड़ देगा और जो कुछ अब हम कहें वह काम करेगा। इस डाकू ने योगिराज की इस बात को सहर्ष स्वीकार कर लिया और निःसंकोच कह दिया कि—प्रभो ! आप जो कुछ भी कहेंगे, मैं उसका सदा सर्वथा बिल्कुल पालन करने को तैयार हूँ। आज्ञा कीजिये कि मैं क्या करूँ। योगिराज श्री कृपालानन्द जी ने किसी पूर्व पुण्यवश उस डाकू के विनयपूर्वक वचनों को सुनकर आज्ञा दी कि अच्छा यह जितना जेवर तुम यहां छिपाने के लिए लाये हो इसको उठा लाओ और हमारे साथ चलो। उस डाकू ने अपना सौभाग्य समझकर तत्काल योगिराज की आज्ञा को मान लिया और सुनहरी जेवर की गठरी को उठाकर उनके साथ चल दिया। महात्मा जी उसको गंगा-किनारे ले गये और वहां ले जाकर आज्ञा दी कि अच्छा अब इस सब जेवर को यहां गंगा जी में फेंक दो। डाकू ने योगिराज की आज्ञा को मानकर सब जेवर गंगा जी में फेंक दिया और स्वयं निर्द्वन्द हो गया। योगिराज श्री कृपालानन्द जी की अहैतुकी कृपा से वह उसी समय से संप्रज्ञात का विद्यार्थी बन गया और उत्तरोत्तर उसका आत्मोत्थान होने लगा। योगिराज श्री कृपालानन्द जी ने उस सुन्दरसिंह नाम के डाकू को योगिराज सुन्दरगिरि नाम में परिवर्तित कर दिया। शनैः-शनैः अपने तीव्रतम योगाभ्यास एवं शुभाचरण के फलस्वरूप वह अणिमादिक महान ऐश्वर्यों को पा गया। किन्तु योगिराज सुन्दरगिरि के सर्व समर्थ हो जाने के बाद भी वृत्ति सारूप्य के फलस्वरूप जिस समय वह अपनी निर्बीज समाधि से उठकर वृत्ति सारूप्य को प्राप्त होते, त्योंही अपने डाकू स्वभाव के अनुसार चेष्टायें किया करते थे, क्योंकि 'स्वभावोहि दुरत्यजः पुंसाम्', यह स्वभाव एक प्रकार से वृत्ति सारूप्य ही है। इसी बात का संकेत करते हुए भगवान अवतारात्मा श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में कह दिया :—

(शेष पृष्ठ १२ पर पढ़िये)

योग एवं दुःख-वियोग

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा, एम० ए०, एम-एड०

ऐसा कौन भाग्यशाली है जो जीवन में समस्याओं से सन्तप्त न हो रहा हो? दुःख मानव की शाश्वत पूँजी बन गया है। अगर यह कहा जाय कि यह संसार ही दुःखरूप है तो अत्युक्ति नहीं होगी। कोई भरपेट रोटी न मिल पाने की वजह से दुःखी है तो कोई ज्यादा पेट भर जाने से बदहजमी का शिकार है। कोई अभाव से दुःखी है तो कोई भाव से। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हो भी जाय तो भी दुःख नहीं समाप्त होता। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने सुख से भी सुखी नहीं हो पाते। वे दूसरों के सुख को देखकर मात्सर्य के कारण दुःखी होते हैं। मूर्ख व्यक्ति सोचता है कि ज्ञानी सुखी होगा। निर्धन सोचता है कि धनी सुखी होगा। सेवक सोचता है कि राजा सुखी होगा। बिना बेटे वाला सोचता है कि पुत्रवान सुखी होगा। सभी अपने से भिन्न दूसरे को सुखी समझते है, किन्तु जीवन का सत्य यह है कि—

'नानक दुःखिया सब संसार'

एक सन्त कहा करते थे—तुम समझते हो जिसके पास एक लाख रुपए हैं, वह एक हजार वाले से अधिक सुखी है? एकदम गलत! जो एक लाख रखता है, वह एक लाख से दुःखी है और जो एक हजार रुपये रखता है वह एक हजार से दुःखी है। विचार करो कि कौन सुखी हुआ? कबीर ने जीवन और जगत् की वास्तविकता का पता लगा लिया था। वे अपनी फक्कड़ मस्ती में कहते हैं—

कबिरा सब जग निर्धना,
धनवन्ता नहिं कोइ।
धनवन्ता सोइ जानिये,
जाके राम नाम धन होय॥

जो सुख दूसरे के संयोग-सम्बन्ध से हुआ है वह सदा रहने वाला कैसे हो सकता है? उस वस्तु के चले जाने पर उसके साथ सुख भी चला जाता है। जो सुख इन्द्रियों और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के संयोग से प्राप्त हो रहा है, वही अवस्था परिणाम से या वस्तु के अभाव में दुःख का कारण बन जाता है। जब शरीर निरोग था हलुवा, पूड़ी में बड़ा सुख मिलता था। ज्वर-विकार होते ही हलुवा, पूड़ी दुःख का कारण बन जाता है। योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यही तो कहा था—

ये हि संस्पर्शजा भोगा,
दुःख योनय एव ते ।
आद्यन्तवन्त कौन्तेय,
न तेषु रमते बुधः ॥

अर्थात् जो सुखरूप भोग इन्द्रिय तथा बाह्य पदार्थों के संयोग से प्राप्त होते हैं, वे न केवल अपने आप में दुःखरूप हैं वरन् भविष्य के दुःखों को जन्म देने वाले हैं, क्योंकि जगत् के सारे पदार्थ क्षणभंगुर हैं। आज हैं, कल नहीं रहेंगे। उन पदार्थों के साथ हम उसी तरह संयुक्त रहें जिस तरह वे पदार्थ हैं—आज बढ़िया भोजन है तो प्रसन्नता का अनुभव कर लें। कल नहीं रहे तो दुःख का अनुभव न करें, तो दुःख न हो, पर ऐसा हो नहीं पाता। विषयों की गुलामी करते करते हमारा मन इतना विषयाकार हो जाता है कि विषयों के न रहने पर विषयों की लालसा विषयों से अधिक कष्ट देती है। बड़े आश्चर्य की बात है-सर्प से अधिक उसकी केंचुली भय और दुःख देने वाली होती है। विषयों से परवशता में निवृत्ति हो भी गई तो अन्तर्मन में विषयों की लालसा, काम, क्रोध, लोभ, अहङ्कार को जन्म देती है। बुद्धि का कष्ट शरीर, मन, इन्द्रिय तथा परिवार सभी को दुःखी बना देता है। बुद्धि में विषय घुस गये तो विषयोपभोग की क्षमता न रहने पर असमर्थता का कष्ट जीवन को दुःखी बना देता है। भगवान गीता में कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य,
आस्ते मनसा स्मरन् ।
अहङ्कार विमूढात्मा,
मिथ्याचारः स उच्यते ॥

अर्थात् जैसे-तैसे, संयम-नियम, लोक-लज्जा, शम-दम आदि उपायों से कर्मेन्द्रियों को विषयों से रोक लेने पर यदि कोई मन से विषयों का चिन्तन नहीं छोड़ता तो वह ढोंगी, पाखण्डी तथा अहंकारी है, संयमी नहीं। ऐसे पुरुष को स्वप्न में भी शान्ति नहीं मिल सकती। इसीलिये समझदार लोग नाव को जल पर चलाते हैं। नाव में जल नहीं आने देते, संसार एक सागर है और आपका जीवन एक नौका है। यदि जीवन को बचाने की कला सीख लो। नाव को पानी में चलाना सीख लिया तो तूफानों के बावजूद भी किश्ती किनारे से लग जायेगी। कदाचित् बिना जीने की कला सीखे हुए जीवन नौका को संसार के सागर में उतार दिया तो डूबने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं। लहरों की रसमीत देखने के सुख के लोभ में सुख की चल-चल और हलचल होने लगेगी।

जिन चीजों में आप सुख खोजने चले हैं उनमें सुख कहां है? जो खुद ही मुर्दा है वह

दूसरे को जीवन क्या देगा ? योग-दर्शन में भगवान पतंजलिदेव के सूत्रों पर भाष्य करते हुए भगवान व्यासजी कहते हैं कि—

चित्तमयस्कान्त मणिकल्पं, सन्निधि मात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः ।

अर्थात् दृश्य प्रपञ्च के सम्पर्क से चित्त बाह्य वस्तुओं के प्रतिबिम्ब से तदाकार होकर उनको अपना रूप समझने लगता है। जैसे चुम्बक के पास रखा हुआ लोहा उसकी ओर स्वतः खिंचता है, इसी प्रकार चेतन पुरुष के संयोग से जड़ पदार्थ भी चेतन जैसे प्रिय लगने लगते हैं। अहंता और ममता के जन्म लेते ही दुःख भी जन्म ले लेता है। अन्यत्र इसी बात को सांख्य-दर्शन में अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं,
चेतनादिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वे च तथा
कर्तेव भवत्युदासीनः ॥

उस चेतन के संयोग से अचेतन चेतन जैसा आभासित होता है। अचेतन जड़ त्रिगुणात्मक प्रपञ्च में ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व है। चेतन उदासीन है यह वास्तविक स्वरूप स्थिति है। इस स्थिति को ही गीता में योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने योग कहा है—

तं योगमित्याहुः दुःख संयोग-वियोग संज्ञितम् ।

अर्थात् दुःख का संयोग नष्ट होना ही योग है। दुःख चेतन का स्वाभाविक धर्म नहीं है यह तो आगन्तुक धर्म है। लोक में एक कहावत प्रचलित है—'करे कोई भरे कोई।' त्रिगुणात्मिका प्रकृति के धर्म हैं सुख, दुःख, मोह आदि। चेतन अमृतपुत्र प्राणी सुख की चाह में प्रकृति के कर्तापन को अपना मान कर दुःख का भोक्ता बन बैठा। निर्लिप्त, निर्विकार, चेतन आनन्दघन पुरुष को अहंकार ने प्रकृति के गुणों का स्वामी बनाकर दुःख का दास बना डाला। मियाँजी नमाज छुड़ाने चले थे, रोजे और गले पड़ गये। उदासीन पुरुष चला था प्रकृति का, विषयों का, संसार का तमाशा देखने पर वह खुद तमाशा बन गया, यही है दुःख संयोग। इस दुःखके संयोग के वियोगका ही नाम योग। वियोग होते ही—

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'

की स्वरूप प्रतिष्ठा की स्थिति प्राप्त हो जायेगी, जिसमें न सुख है और न दुःख, है शाश्वत आनन्द की स्थिति। उपनिषदों में अखिल भूमात्व की स्थिति—

'यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे'

जिसमें पहुँचकर अतीत वर्तमान तथा अनागत दुःखों की एकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति

हो जाती है। यही वह ब्राह्मी स्थिति है, जिसमें स्थित होने पर शोक, मोह, लोभ, अहङ्कार, काम, क्रोध-जनित दुःख विचलित नहीं कर पाते। इस स्थिति में पहुँचकर मन की सारी लालसायें तृप्त हो जाती हैं। कुछ भी पाना अवशिष्ट नहीं रहता।

सुख-दुःख क्या है ?

किसी वस्तु से आपको कितना सुख कितना दुःख है इसको मापनेका आधार क्या है ? मन ही तो है न ? आपका मन ही यह अनुभव करता है कि अमुक मुझे सुख दे रहा है, अमुक मुझे दुःख दे रहा है। सुख-दुःख देने वाला नहीं रहा, फिर भी मन के अन्दर निहित संस्कार आपको सुख-दुःख देने लगता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सुख-दुःख किसी व्यक्ति या वस्तु की देन नहीं है, अपितु आपकी अपनी ही उपज है। अंग्रेजों में एक कहावत है—

'Nothing is good and nothing is bad, but thinking makes it so.'

वस्तुतः आपका अपना आइना-मनमुकुर ही गन्दा है, उसे साफ कर लीजिये, उस पर पड़ने वाला प्रतिबिम्ब अपने आप साफ हो जायगा।

दुःख और सुख प्रकृति का अपना परिणाम। आप उसको अपना मानकर धोखा क्यों खाते हैं ? आपने जो अहङ्कार का नाम-रूपात्मक कोट पहनकर अपने को जकड़ रखा है उसे एक बार उतार कर फेंकिये, फिर देखिये आप सुख-दुःख दोनों से मुक्त हैं। फिर आप जो चाहें सो ही हो जायेंगे। दुःख तभी तक है जब तक आप अपने को कोट माने हुए हैं। देह माने हुए ही हैं। मन, बुद्धि, माने हुए हैं। यह सब तो प्रकृति का पसारा है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने एक अर्धाली में इसे स्पष्ट कर दिया।

गो गोचर जहाँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेउ भाई॥

माया के चक्कर में पड़कर नाचना पड़ेगा, जन्म-मरण का दुःख भोगना पड़ेगा। अगर माया के चक्कर से छूटना चाहते हो तो योगी बन जाओ। जो माया साधारण जीवों को उँगली पर नचाती है, वह योगी के इशारे पर नाचती है। ईश्वर की नर्तकी बन जाती है।

'सो माया नर्तकी बिचारी।'

मायापति से मिलने पर माया अपना तमाशा मिलने वाले को दिखाना बन्द कर देती है। वह सोचती है—अरे! यह तो बड़ा समझदार निकला। यह मेरी सारी पोल जानता है, फिर इसे तमाशा दिखाने से क्या मिलेगा ? वहाँ से विमुख होकर अज्ञानी मूढ़ संसारी जीवों को नचाने लगती है, उसका खेल ही संसार है। जब वह थक कर आराम करती है, उसी का नाम प्रलय है। आराम के बाद फिर अपने त्रिगुणात्मक पिटारे से नानाप्रकार

सृष्टि कर फिर खेल आरम्भ कर देती है। इस जादुगरनी से छूटने का एक ही उपाय है, वह है योग।

योग से जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप में उसी प्रकार स्थित हो जाता है, जैसे कोई वीर अपने शत्रुओं से छूटकर सुदृढ़ दुर्ग में पहुँचकर भययुक्त हो जाता है। योगयुक्त होने पर अल्पज्ञ आदि अभावों से ग्रस्त जीव 'कत्तु'-मकत्त्‌ 'मन्यथा कत्‌'म' की सामर्थ्य से युक्त हो जाता है, उसकी गरीबी मिट जाती है, वह शाहंशाह हो जाता है, उसे किसी की चाह नहीं रहती। वह शीतोष्ण सुख-द्वन्दों से बिल्कुल परेशान नहीं होता। वह प्राणीमात्र में समत्व-बुद्धि रखकर सभी का कल्याण करने की सामर्थ्य वाला हो जाता है। उसमें अपने-पराये की भेद बुद्धि नष्ट हो जाती है। वह जीवन जीने की कला जान जाता है। वह कर्म करता हुआ भी अकर्ता बना रहता है। योग-कर्म की कुशलता बताता है, जैसे मुरगाबी-चिड़िया पानी में रहकर पानी से अलग रहने की कला जानती है। पानी में डुबकी लगाने पर उसके पङ्खों पर एक बूंद भी पानी की नहीं होता। दूसरे और कौवे अगर एक बार पानी में डुबकी लगा लें, तो घण्टे भर तक पङ्खों को सुखाने पर सूख पावेंगे, अन्यथा पानीमें ही डूब जायगा। इसी प्रकार योगी लोक-व्यवहार करता हुआ भी कर्म बन्धन (राग-द्वेष) से रहित होता है।

संसारी लोग सुख-दुःख भोगते-भोगते इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि उसे ही मानकर उसी में जीवन काटने को कृतार्थता मान बैठते हैं। एक सम्मान्य कवि ने इसी जीवन-दर्शन को इन पंक्तियों में व्यक्त किया है—

'जग पीड़ित है अति सुख से,
जग पीड़ित है अति दुःख से।'
"सुख-दुःख के मधुर मिलन से,
यह जीवन हो परि-पूरण।"

श्री रामकृष्ण परमहंस ने एक उदाहरण दिया है। संसारी-जनों का जो संसार के पतन का अनुभव करते हुए भी कुछ नहीं करना चाहते। एक तालाब में तीन प्रकार की मछलियां थीं। मछुए ने जैसे ही जाल डाला, मछलियों में खलबली मच गई। उसमें कुछ मछलियां ऐसी मूढ़ भी थीं जो भविष्य की चिन्ता से मुक्त वर्तमान के पानी के जीवन को सच मानकर कुछ नहीं करना चाहती थीं। दूसरे प्रकार की वे थीं, जो भविष्य की चिन्ता से दुःखी थीं, किन्तु यह नहीं सोच पा रही थीं कि क्या करें, इस जाल से कैसे निकलें। तीसरे प्रकार की ऐसी मछलियां थीं जिन्हें जैसे ही यह मालूम पड़ा कि जाल डाल दिया गया है और शीघ्र ही जल से वियोग हो जायेगा, महान् दुःख देखना पड़ेगा। वैसे ही

उन्होंने अपने मुश्किल से छिद्रों से बाहर निकलकर जाल में लगे हुए काँटे के लोभ को छोड़कर दूसरी मछलियों को भी पुकारा-- हमारी तरह तुम भी आसक्ति और भोग छोड़ कर मुक्त हो जाओ। पर बेचारों की सुनता कौन था? देखते-देखते मछुआ जाल की सारी मछलियों को पकड़कर ले गया। संसार के लोगों का यही हाल है। दुःख में पड़े-पड़े दुःखी जीवन पसन्द करते है। हमारा भाग्य ही ऐसा है—इसी की दुहाई देते रहते हैं। कुछ महारथी भौतिक सुख-साधनों को जुटाकर इसीमें ऐसे रम जाते है, मानो उन्होंने सबको पा लिया। ये कार-कोठी, पद-प्रतिष्ठा धन वैभव सदा उनके बनकर रहेंगे। कुछ अज्ञानी ऐसे होते हैं कि भूत को सत्य मानकर प्रारब्ध को बलवान् मानते है और ऐसे भूत की चिन्ता में वर्तमान के कर्मों से हाथ धो बैठते हैं। कोई शूरवीर ही अतीत, आगत और अनागत दुःखों का बीज नाश करने के लिए कमर कसता है। फक्कड़ कबीरने संसार के लोगों को सावधान करते हुए कहा था—

झूठे सुख को सुख कहैं, मानत हैं मन मोद,
जग चबैना काल का, कछु मुख में कछु गोद।

दुःख तो प्राणी के कर्माशय में अविद्या के परिणामस्वरूप जन्म-जन्मान्तर से संचित है। आप कितने भी तंत्र-मंत्र, औषधि, सिद्धि कर लीजिये। उसकी हमेशा के लिए निवृत्ति हो ही नहीं सकती और जब तक दुःख की निवृत्ति नहीं होगी, तब तक जन्म मरण की प्रक्रिया चलती रहेगी। भगवान पतञ्जलि योग-दर्शन में कहते हैं—

क्लेशमूलः कर्माशयो,
दृष्टादृष्ट जन्म-वेदनीयः।
सतिमूले तद्विपाको,
जात्यायुर्भोगाः ॥
(योग-दर्शन २/१२/१३)

जाति, आयु तथा भोग कर्माशय के आधार पर ही होता है। तत्व-दृष्टि से विचार किया जाय तो सुख के मूल में दुःख है और अन्त में भी दुःख ही है। व्यक्ति के जैसे संस्कार होंगे, उन्हीं के अनुसार वह बाह्य पदार्थों का उपभोग करेगा। पदार्थों में जितना राग होता जायगा उतना ही दुःख भी बढ़ता जायगा। हर समय उन प्रिय पदार्थों की रक्षा तथा नष्ट होने की चिन्ता सुख को दुःख में बदल देती है। अतः विवेकी पुरुष संसार को दुःख रूप समझकर उसमें रमते नहीं है, अपितु उसका बन्धन काटकर मुक्त होना चाहता है। भगवान पतञ्जलि ने कहा भी है—

परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुणवृत्ति-
विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।
२/१५

अर्थात् इन्द्रियों में सुखों के भोग की क्षमता

न रहने से जो सुख था, वही परिणाम में क्लेशमूलक कर्माशय का कारण बन जाता है। धर्मानुष्ठानादि से सुख के साथ-साथ जो कष्ट होता है तथा चित्तवृत्ति के प्रवाह से सुख भी दुःखस्वरूप हो जाता है। इसी प्रकार विरोधी गुणों के संयोग से सुख-दुःख में बदल जाता है। विवेकी व्यक्ति इसीलिए दुःख का अनुभव करते हैं और सभी को दुःखरूप समझकर कर्माशय को समाप्त करने के लिए चित्तवृत्तियों का तप, स्वाध्याय, ध्यान आदि क्रियाओं से निरोध करने को कटिबद्ध होते हैं। जो दुःख के स्वरूप, कारण तथा निराकार को ठीक-ठीक उपाधि को नहीं जानते थे, वे भौतिक सुख साधनोंकी जोड़ने में ही जीवन की बाजी हार जाते हैं।

सभी प्रकार के दुःखों को दैहिक, दैविक तथा भौतिक तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है। इन श्रेणियों को भी तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। अतीत दुःख, वर्तमान दुःख और अनागत दुःख। जिस दुःख का भोग हो चुका है, उससे भविष्य का कर्माशय तैयार हो गया और जन्म-मरण का अनागत दुःख उसी में छिपकर बैठ गया। दूसरे अतीत के दुःखोंके संस्कारों के परिणामस्वरूप ही वर्तमान का भोग भोगना पड़ेगा। इनमें दो दुःख पुरुषार्थ से नष्ट हो सकते हैं। वे हैं— वर्तमान तथा भविष्य के दुःख। प्रारब्ध के दुःखोंका नाश भोगने से ही होगा। वर्तमान के कर्मों को योगयुक्त होकर करने की कला से किया जाय तो जीवन्मुक्त दशा का आनन्द और पुनर्जन्म से मुक्ति लाभ हो सकता है। योगी प्रारब्ध का भोग भी यद्यपि भोगकर नष्ट करता है, किन्तु सामान्य व्यक्ति से अलग ढंग से वह भोगता है। सामान्य व्यक्ति प्रारब्ध कर्मों को भोगते हुए नया कर्माशय बनाता जाता है, जिसके परिणामस्वरूप जन्म-मरण का होना आवश्यक है। दूसरे साधारण व्यक्ति उसे शरीर से बहुत समय में भोग पाता है। इसके विपरीत योग-सूक्ष्म और कारण-शरीर अपने मन की पहुँच होने के कारण कई जन्मों के कर्मों को कुछ महीनों और घण्टों में भोग लेता है तथा उसका कर्माशय भी नहीं बनता, क्योंकि उसमें प्रकृति-पुरुष-विवेक हो चुका होता है, जिससे "उमर धरयाहि भूप नहि आसा" की स्थिति में अधिष्ठित होने के कारण उसे भोगने की कला आ जाती है।

जन्म-मरण के दुःख से योग ही छुटकारा दिला सकता है। इसके अतिरिक्त कोई और रास्ता नहीं। योगसे हे संसारी पुरुषो! आत्म-कल्याण कर लो, ऐसा अवसर फिर नहीं आयेगा। महर्षि पतंजलि सन्देश दे रहे हैं— "हेयम् दुःखमनागतम्।" भविष्य के दुखों से आँख बन्द करने से दुःख टल नहीं जायगा। समय रहते उसे दूर करने का पुरुषार्थ करो। अन्यथा काल कर्म और ईश्वर को दोष देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं बन पड़ेगा।

[पृष्ठ ४ से आगे]→

निरोध एवं वृत्ति सारूप्य

स्वभावजेन कौन्तेय,
निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहा-
त्करिष्यसि वशोऽपि तत् ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! मनुष्य अपने स्वभाव से निबद्ध है। जिन कर्मों को तू मोहवश नहीं करना चाहता, वे सब कर्म विवश होकर तुम्हें करने ही पड़ेंगे। यह नियम साधु, महात्मा, संन्यासी एवं साधारण जीव सभी पर सामान्य रूप से लागू है।

योगी सुन्दरगिरि एक बार हरिद्वार कुम्भ पर आये। कई सौ की तादाद में उनकी शिष्य-मण्डली उनके साथ थी। इतने बड़े समुदाय के लिए अन्न-क्षेत्र की बड़ी भारी आवश्यकता थी। योगी सुन्दरगिरि ने देखा कि इस कुम्भ के मेले में कोई एक बड़े धनिक आये हुए हैं जिनसे इस अभाव की पूर्ति करानी चाहिए। योगी सुन्दरगिरि सर्व समर्थ थे, चाहते तो उन सेठ जी के मन में प्रेरणा करके भी उस काम को करा सकते थे, किन्तु उन्होंने वैसा न करके अपने एक शिष्य के द्वारा एक आज्ञा-पत्र लिखकर भेज दिया कि इतनी बोरी खांड, इतनी बोरी आटा, इतने कनस्तर घी के, इतना-इतना शाक-सब्जी व अन्यान्य सामान तत्काल भेज दो। सेठ जी ने इतने बड़े सामान को भेजने में जब आनाकानी की तो योगी सुन्दरगिरि ने प्राणाकर्षिणी विद्या से उनके प्राणों को खींचना प्रारम्भ कर दिया और जो काम साधारण प्रेरणा मात्र से कराया जा सकता था, उसको कठिन आकर्षण से जबरदस्ती कराया। इसी का नाम वृत्ति सारूप्य है। सर्व साधारण प्राणी सभी वृत्ति सारूप्य में रहा करते हैं। केवल मात्र युक्त योगी, जिसने अपने कठिन प्रयास से निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लिया है, वे ही देह धारण करते हुए भी निर्बीज समाधि में—स्वरूपावस्थित होते हैं। जो लोग बिना परिश्रम के एवं बिना तपश्चर्या के सिद्धानुग्रह को पाकर उच्चतम स्थितियों को पा जाया करते हैं, वे वृत्ति सारूप्य को प्राप्त होकर अपने स्वभाववश पाप-पुण्य के झमेले खरीद लिया करते हैं। इसलिए जहां योगी अपने समाधिरूप चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है वहां अपने क्लिष्ट वृत्तियों के नाश करने के लिए तीव्रतम तपश्चर्या अथवा योगांगों के अनुष्ठानों की उसे भारी आवश्यकता रहती है। जिससे इसी शरीर के अन्दर रज और तम के क्षय हो जाने के बाद सतोमयी शुभ वृत्तियों का उदय हो जाय जिससे वृत्ति सारूप्य काल में उससे शुभ कार्य ही हो सकें।

एक चिन्तन

● श्री किशोरीलाल शास्त्री, झांसी

जब कभी भी सांसारिक झंझटों से विश्राम पाकर एकान्त में शान्त चित्त होकर बैठने का मौका मिलता है, तभी अकस्मात् एक विचित्र भावना का उदय होता है कि आखिर यह मनुष्य शरीर किस लिये प्राप्त हुआ है ? क्या खाना, पीना, मलोत्सर्ग करना, स्त्री से प्रेम करना, संतान का पालन करना, मकान बनाना आदि इन्हीं कार्यों की पूर्ति में इस बुद्धिजीवी मानव शरीरकी इति कर्त्तव्यता की पूर्ति हो जाती है या और भी कोई विशेष कर्त्तव्य इस मानव शरीर का है ?

परन्तु जब दृष्टि पसार कर संसार के अन्य शरीरधारी पशु-पक्षी आदि की ओर देख कर उनके जीवन-चरित्र पर विचार करते हैं, तब तो ऐसा लगता है कि हम मानवों से तो इन पशु-पक्षी आदि की योनियां ही अच्छी हैं, क्योंकि इनको अपने शारीरिक जीवन-निर्वाह के लिए खेती, भवन-निर्माण, बड़े-बड़े उद्योग, कालेज आदि की कोई व्यवस्था नहीं करनी पड़ती, फिर भी वे मानवोचित सभी भोगों को सुख से भोगते हैं। प्रकृति ने स्वयं उनकी आवश्यक वस्तुओं का निर्माण किया है। इससे अवश्य ही इन्द्रियों के विषयों को भोगने के अलावा भी मनुष्य का और भी कोई विशेष कर्त्तव्य होना चाहिए। ऐसी भावना आते ही स्मरण होता है कि ऋषियों ने ठीक ही कहा है :—

आहार निद्रा भय मैथुनं च, सामान्य मेतत् पशुभिः नराणाम्। धर्मो हि तेषा-मधिकोविशेषो, धर्मेण हीनः पशुभिः समानः।

अर्थात् मनुष्य में अन्य प्राणियों में केवल धर्म, ज्ञान का अन्तर है। मनुष्य धर्म का पालन कर स्वर्ग सुख भोगने के बाद जन्म-मरण के दुःख से मुक्त हो जाता है और पशु-पक्षी कीटादि ज्ञान बुद्धि न होने से केवल इन्द्रिय सुख को भोगते हैं और चौरासी लाख योनियों में भटकते रहते हैं तथा बार-बार जन्म-मरण के समय दुसह-दुःख को सहते हैं।

'जीवत मरत दुसह दुःख सहहीं'।

गरुड़-पुराणमें लिखा है कि जब जीवात्मा जन्म लेता है तब उसे योनि-यन्त्र में से बाहर निकलने की वेला में गन्ने की मशीन में गन्ना के समान दबकर निकलना पड़ता है, इसी से कुछ समय के लिए बालक बेहोश रहता है। कुछ समय बाद वह रोता है, इसी से अनुमान होता है कि जन्म के समय असह्य दुःख होता है। इसी प्रकार शास्त्रों में लिखा है कि जब जीवात्मा शरीर से निकलता है, उस समय प्राणवायु के शरीर में से निकलने के समय

सहस्रों बिच्छुओं के काटने के समान वेदना होती है, जिससे मल-मूत्र छूट जाता है और चेतना-शक्ति स्तम्भित हो जाती है। परन्तु जो प्राणी सच्चे धार्मिक होते हैं उन्हें अवश्य मरने के समय कष्ट नहीं होता है।

इससे यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि मनुष्य को धर्म का पालन अवश्य करना चाहिए। अब धर्म क्या है? इस जिज्ञासा ने धर्मशास्त्र की ओर मन को प्रेरित किया, तब यह वाक्य स्मृति-पट पर उदय हुआ कि—

यतोऽभ्युदय, निःश्रेयस सिद्धिः, स धर्मः।

अर्थात् जिस आचरण के द्वारा ऐह लौकिक, पारलौकिक सुख की प्राप्ति हो और इसके बाद निःश्रेयस (मोक्ष) की भी प्राप्ति हो उसे धर्म कहते हैं। यद्यपि धर्म की शास्त्रों में बहुत सी परिभाषायें हैं, परन्तु उन सबका इसी परिभाषा में अन्तर भाव हो जाता है। इससे प्रथम ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख की प्राप्ति का साधन जानने की जिज्ञासा ने स्मरण कराया। यदि तुम सुख चाहते हो तो तुम किसी प्राणी को दुःख मत पहुंचाओ—

आत्मनः प्रतिकूलानिपरेषां न समाचरेत्

और भी—

प्रत्याख्यानेऽचदाने च,
सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
आत्मौपम्येन पुरुषः,
प्रमाणमधिगच्छति॥

इस प्रकार अभ्युदय का साधन समझ में आ जाने के बाद निःश्रेयस सिद्धि (मोक्ष) की इच्छा से भी स्मृति दिलाई कि—

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः

अर्थात् ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं मिलता। तब विचार आया कि क्या मुझमें ज्ञान नहीं है? मैं तो सब कुछ जानता हूँ, फिर भी क्यों अशान्ति है? इसका मतलब हुआ कि मोक्ष देने वाला ज्ञान कोई दूसरा है। यदि दूसरा है तो कहां प्राप्त होगा? इतना विचारते ही श्रीमद्भगवद् गीता में योगयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण जी का कहा हुआ निम्नांकित श्लोक स्मरण हो आया, कि—

तद्विद्धि प्रणिपातेन,
परिप्रश्नेन सेवया॥
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं,
ज्ञानिनस्तत्त्व दर्शिनः॥

अर्थात् तत्त्व-दर्शी (ब्रह्म स्वरूप) ही ज्ञान का उपदेश देंगे, तब तत्त्व-दर्शी की खोज के लिए उपनिषदों का सहारा लेना ही उचित समझा, क्योंकि इस युग में सच्चे तत्त्व-दर्शी मिल जाना प्रायः असम्भव सा ही है। तब उपनिषदों ने अन्तर्ध्वनि की—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः

अर्थात् बलहीन मनुष्य आत्मा (ब्रह्म) को नहीं जान सकता। तब बल कहाँ से प्राप्त हो? और कौनसे बल से आत्मा की प्राप्ति किया जायगा? क्योंकि बल तो अनेक प्रकार के हैं। धनबल, मनोबल, इन्द्रिय बल, शरीर-बल, कुटुम्ब-बल, जाति बल, मित्र बल, अधिकार-बल, विद्या बल, मद-बल आदि। तब श्री विश्वामित्र जी का वाक्य स्मृति-पट पर अङ्कित हुआ कि—

धिग्बलं क्षत्रियबलं,
ब्रह्मतेजोबलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन,
सर्वास्त्राणि हतानि मे॥

अर्थात् ब्रह्मबल ही सर्वश्रेष्ठ बल है, जिसने हमारे सारे शस्त्रास्त्रों को नष्ट कर दिया, जिन्हें मैंने हजारों वर्ष तपस्या करके बड़ी कठिनता से प्राप्त किया था, इससे ब्रह्म बल ही प्राप्त करना चाहिए, जिसे प्राप्त कर विश्वरथ राजा ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के नाम से विख्यात हुए।

अब तो ब्रह्मबल प्राप्ति की तृष्णा सर्वदा ही स्मृति में रहती है। ब्रह्मबल कैसे प्राप्त किया जाय? जब तक ब्रह्म के पास न पहुंचा जायगा तब तक ब्रह्म का बल कैसे मिलेगा? वेद कहते हैं—

"चरैवेति, चरैवेति, चरैवेति"

अर्थात् चलते ही रहो, चलते ही रहो, सर्वदा आगे ही बढ़ते रहो, तब "ब्रह्मचर्य व्रत" पालन करना ही प्रधान कर्तव्य के रूप में निर्णीत हो गया और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले तीन चार आदर्श स्वरूप महापुरुष भगवान् श्री रामचन्द्र जी, भगवान् श्रीकृष्ण जी, महाबली श्री हनुमान जी तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्री भीष्मपितामह जी।

यद्यपि इनके आदर्श जीवन-चरित्रों का वर्णन करना मेरी तुच्छ बुद्धि के लिए उसी प्रकार दुर्गम्य है जैसे कि कवि कुलगुरु श्री कालिदास जी ने रघुवंश काव्य लिखने के पूर्व कहा है, कि—

क्व सूर्य प्रभवो वंशः,
क्व चाल्पविषयामतिः।
तितीर्षुः दुस्तरं मोहात्,
उडुपेनास्मि सागरम्॥
मन्दः कवियशः प्रार्थी,
गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फलेलोभात्,
उद्बाहुः इव वामनः॥

अर्थात् बहुत ऊंचे कद वाले मनुष्य के द्वारा तोड़े जाने योग्य फल को तोड़ने के लिए कोई बौना मनुष्य हाथ ऊपर को उठाता है, या छोटी सी डोंगी (नौका) के द्वारा अपार समुद्र को पार करना चाहे। दोनों ही हँसी के पात्र बनते हैं।

परन्तु इन्हीं महाकवि कालिदास की—

तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः

अर्थात् उनके गुणों ने कानों में आकर चरित्र वर्णन करने की चंचलता लाने को प्रेरित किया, मैं उनका चरित्र वर्णन करूँगा। इस उक्ति के अनुसार मैं भी उपर्युक्त चारों आदर्श महापुरुषों के चरित्रों के स्मृति-पट पर आ जाने के कारण उनका अपने विषय के अनुकूल कुछ अंश पाठकों के सामने रख रहा हूँ, जिन्हें पढ़कर हमारे श्रद्धालु जिज्ञासु पाठक भी अपने साधन के मार्ग में आने वाले विघ्नों का निराकरण करते हुए आगे बढ़ सकेंगे।

हमारे पाठकों की दो श्रेणी है—(१) गृहस्थ, (२) विरक्त (बालक-युवा)। दोनों ही ब्रह्मचर्य का पालन कर सकें, इसलिये दोनों प्रकार के आदर्श पुरुषों का चरित्र उपस्थित किया जा रहा है। प्रथम तो बाल, युवा चरित्र ही वर्णन किये जाते है, क्योंकि बाल्य-काल के संस्कार मनुष्य को अपने लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ होते है, जैसा कहा भी है—

प्रथमे नार्जिता विद्या,
द्वितीये नार्जितम् धनम्।
तृतीये न तपः तप्तम्,
चतुर्थे किं करिष्यति॥

यदि प्रथम बाल्यकाल में विद्या (ज्ञान) प्राप्त न किया गया तो आगे की तीनो अव-स्थायें प्रकाशहीन रहती है उनमें सही कर्त्तव्य का पालन नहीं हो पाता और मानव-जीवन पाना ही निष्फल हो जाता है। जैसाकि हिन्दी के कविकुल चूड़ामणि श्री तुलसीदास जी ने अपने रामचरित मानस में स्पष्ट रूप में कहा है—

साधन धाम मोक्ष कर द्वारा।
पाय न जिहि परलोक सुधारा॥
सो परत्र दुख पावइ,
सिर धुनि-धुनि पछताय।
कालहिं, कर्महिं, ईश्वरहिं,
मिथ्या दोष लगाय॥

इससे परमात्मा की अहैतुकी कृपा से प्राप्त हुए इस मानव-शरीर का हमें सदुपयोग करना चाहिए—

कबहुँक करि करुणा नरदेही।
देत राम बिनु हेतु सनेही॥

भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी भी इसी बात को स्पष्ट रूप में कह रहे है :—

ददामि बुद्धियोगं तं येनमाम् उपयान्ति ते

अर्थात् मैं उस जीवात्मा को बुद्धि योग (बुद्धि का जोड़) अर्थात् पूर्ण बुद्धि से युक्त मानव शरीर देता हूँ, जिसके द्वारा वह जीवात्मा मेरे पास आ जाता है। उपनिषद् भी इसी बात को कह रहे है—

यमेव वृणुते तेन लभ्यः

अर्थात् वह परमात्मा जिसको अपनाता है, वही उसे प्राप्त कर सकता है। वह हमें पुकार रहा है, बाहर याद दिला रहा है, सावधानी से आगे बढ़ो।

श्रीमद्भगवद्गीता एवं योग

श्री पूर्णचन्द्र पन्त

गीता सुगीता कर्त्तव्या,
किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य,
मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

गीता के सम्बन्ध में उक्त कथन अक्षरशः सत्य है, क्योंकि गीता समस्त उपनिषदों एवं पुराणों का सार है। अतः इसे गीतोपनिषद भी कहा जाता है। समस्त धार्मिक वाङ्मय को मथकर ७०० श्लोकों में साररूप में संग्रहीत यह गीतारूपी रत्न सभी वर्णों और सभी आश्रमों के स्त्री-पुरुषों के लिए कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है तथा व्यक्तित्व में नैतिकता का समावेश करके नया जीवन प्रदान करने की अद्भुत क्षमता रखता है। नियमित रूप से इसका अध्ययन व मनन करने वाला व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का अध्ययन करने को बाध्य हो जाता है और अपने दोषों को दूर करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है।

यही कारण है कि तत्वदर्शी मनीषी तथा संसार के सभी महापुरुष गीता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते आये हैं और उनमें से बहुतों ने तो गीता जी के दिव्य उपदेश पर आचरण करते हुए ही महापुरुषत्व प्राप्त किया। देश तथा विदेश के सभी उच्चकोटि के विचारक गीताका आदर करते हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य जैसे विरक्त वन्द्य सन्त ने भी इस पर अपना भाष्य लिखकर इसकी महिमा को बढ़ाया है।

सभी प्रकारके मतवाद से निर्लिप्त यह ग्रन्थ-रत्न भारतीय दर्शन का मूर्तिमान स्वरूप है।

आज के व्यस्त जीवन में जन-साधारण के पास न तो इतने विस्तृत धार्मिक साहित्य को पढ़ने का अवकाश है और न वह उसे समझने की योग्यता ही रखता है। गीता संक्षिप्त तथा सरल भाषा में है। अतः इसका अध्ययन हर व्यक्ति कर सकता है। साधारण पढ़े लिखे आदमी से लेकर उच्चकोटि के विद्वान तक सभी इसका निरन्तर अध्ययन करते हुए नित-नवीन आनन्द प्राप्त करते हैं। जीवन-भर भी इसे पढ़ते हुए मनुष्य अघाता नहीं। जितनी बार इसे पढ़ो, उतनी ही बार कोई नई बात मिल जाती है। वस्तुतः गीता के तत्व को जान लेने के बाद कुछ भी पढ़ना और जानना शेष नहीं रहता।

श्रीमद्भगवद्गीता का प्रतिपाद्य विषय

ब्रह्म-विद्या (योगविद्या) है, अतः इसे योग-शास्त्र कहा गया है। मनुष्य अपने वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्य-कर्मों का कुशलता से पालन करता हुआ किस प्रकार योगारूढ़ होकर मोक्ष का भागी बन सकता है, इस बात को गीता में बड़े सरल और रोचक ढङ्ग से समझाया गया है। एक साधारण गृहस्थी से लेकर तीव्र वैराग्यवान योगके उत्तम अधिकारी तक सबके लिए आत्मोद्धार के पृथक्-पृथक् उपाय गीता में प्रशस्त किये गये हैं तथा ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का समन्वय करके उन्हीं के माध्यम से 'सिद्धयोग' और 'साधनयोग' का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट किया गया है। मैं इस लेख में गीतोक्त 'सिद्धयोग' और 'साधन-योग' का विशेष रूप से उल्लेख कर रहा हूँ।

(१) सिद्धयोग—

जन्म-जन्मान्तर के संस्कार-वश योग-साधना में प्रवृत्त होकर सिद्धावस्था को प्राप्त हुए महापुरुषों की स्थिति का वर्णन दूसरे अध्याय में श्लोक संख्या ५५ से ७२ तक किया गया है। जैसे—

प्रजहाति यदा कामा-
न्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः,
स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

गीता २/५५

हे अर्जुन ! जब यह मनुष्य मन में स्थित समस्त कामनाओं का भलीभाँति त्याग कर देता है और आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट रहता है तभी वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः,
सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतराग भय क्रोधः,
स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

गीता २/५६

दुःखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता और सुखों की प्राप्ति की जिसे इच्छा नहीं है, जिसके राग, द्वेष, भय, क्रोध पूरी तरह नष्ट हो चुके है ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्त-
त्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि,
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

गीता २/५७

जो पुरुष सांसारिक विषयों में ममता-रहित होकर प्रिय और अप्रिय वस्तु, व्यक्ति अथवा परिस्थिति के प्राप्त होने पर न तो प्रसन्न होता है और न उससे द्वेष ही करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा संहरते चायं,
कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य-
स्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

गीता २/५८

जैसे कछुआ अपने समस्त अङ्गों को सब ओर से समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष रूप, रस आदि विषयों से अपनी ज्ञानेन्द्रियों को पूरी तरह हटा लेता है, तभी वह स्वरूप-प्रतिष्ठित कहलाता है।

या निशा सर्वभूतानां,
तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि,
सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

गीता २/६९

सम्पूर्ण प्राणियों के लिए जो रात्रि के समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्द की प्राप्ति में स्थित-प्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान क्षण-भंगुर सांसारिक सुख की प्राप्ति में सब प्राणी जागते हैं, अर्थात् प्रयत्नशील रहते हैं। परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले सिद्ध योगी के लिए वह घोर अन्धकार-पूर्ण रात्रि के समान है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

गीता २/७०

जैसे सब ओर से अथाह जल से परिपूर्ण एवं अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में नाना नदियों के जल उसे विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं। वैसे ही सभी प्रकार के भोग जिस सिद्ध पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं।

अर्थात् जिस प्रकार समुद्र अथाह जल से परिपूर्ण है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ योगी अनन्त आनन्द से परिपूर्ण है। जैसे समुद्र के जल की आवश्यकता नहीं है, वैसे ही स्थितप्रज्ञ योगी को सांसारिक सुखोंको तनिक भी आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार समुद्र में भारी से भारी तूफान आने पर तथा उमड़ती हुई नदियों का भारी जल उसमें प्रविष्ट होने पर वह अपनी सीमाओं को नहीं तोड़ता, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ योगी की स्थिति भी सर्वथा अचल होती है। बड़े से बड़े सांसारिक सुख-दुखों की प्राप्ति होने पर भी वह अपनी स्थिति से जरा भी विचलित नहीं होता।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ
नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि
ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

गीता २/७२

हे अर्जुन! यह परमात्मा को प्राप्त हुए

सिद्धयोगी की स्थिति है। इसे प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अन्तकाल में भी इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर वह ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है अर्थात् जीवन-मरण के चक्र से छूटकर सच्चिदानन्द परमात्मा में मिल जाता है।

यहाँ तक स्थितप्रज्ञ योगी के लक्षण बताये गये हैं। अब गीता के छठे अध्याय में वर्णित 'ध्यान-योग' का आचरण करने वाले योगी की सिद्धावस्था का उल्लेख किया जा रहा है।

यदा विनियतं चित्त-
मात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो,
युक्त इत्युच्यते तदा॥

गीता ६/१८

अच्छी प्रकार वश में किया गया चित्त जिस काल में परमात्मा में भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस काल में सम्पूर्ण भोगों से इच्छा रहित हुआ पुरुष योगी कहलाता है।

यथा दीपो निवातस्थो,
नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य,
युञ्जतो योगमात्मनः॥

गीता ६/१९

जिस प्रकार वायु रहित स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी स्थिति परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के वश में किये हुए चित्त की समझनी चाहिए।

अर्थात् वायु न लगने के कारण दीपक की ज्योति हिलती-डुलती नहीं है, उसी प्रकार वश में किया गया चित्त परमात्मा के स्वरूप में अचल स्थित रहता है।

यत्रोपरमते चित्तं,
निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं,
पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥

गीता ६/२०

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्-
बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं
स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

गीता ६/२१

यं लब्ध्वा चापरं लाभं
मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन
गुरुणापि विचाल्यते॥

गीता ६/२२

तं विद्याद्दुःखसंयोग-
वियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो
योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

गीता ६/२३

योग के अभ्यास से निरुद्ध चित्त जिस अवस्था में संसार से पूरी तरह उपरत हो जाता है और जिस अवस्था में परमात्मा के ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा परमात्मा को साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्द परमात्मा में ही सन्तुष्ट रहता है तथा इन्द्रियों के अनुभव से परे केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है और जिस अवस्था में स्थित यह योगी परमात्मा के स्वरूप से विचलित नहीं होता।

परमात्मा की प्राप्तिरूप जिस परम लाभ को प्राप्त करके वह योगी उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता। अर्थात् इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण भोग, त्रिलोकी का राज्य, विश्व-व्यापी मान-प्रतिष्ठा आदि सभी सांसारिक सुख उसे नीरस, क्षण-भंगुर एवं तुच्छ प्रतीत होते हैं और परमात्मा की प्राप्तिरूप जिस अवस्था में स्थित योगी महान् से महान् दुःख प्राप्त होने पर भी विचलित नहीं होता। उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए दुःखरूप संसार के संयोग से रहित और सुख के मूल इस योगको तत्त्वदर्शी महापुरुषों से अवश्य जानना चाहिए। यह योग साधन धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त से श्रद्धापूर्वक एवं तत्परता के साथ करना चाहिए।

(२) साधन-योग—

पूर्व श्लोकमें परम प्राप्तव्य सच्चिदानन्दघन परमात्मा की प्राप्ति के लिए तत्परता से योग-साधन करने को कहा गया है। अतः अब यहाँ योग साधन की विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा रहा है।

अष्टांगयोग को ही साधन-योग कहा जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसका निरूपण अभ्यास-योग और ध्यान-योग आदि नामों से किया गया है। गीता के छठे अध्याय में आद्योपान्त ध्यान-योग का वर्णन है। १०वें श्लोक से ४७वें श्लोक तक ध्यान की विधि, योगीका आहार-विहार तथा योगीकी श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त अध्याय ८, १५ और १८ में भी इसी साधन-योग (अभ्यास योग) का सुन्दर विवेचन किया गया है। जैसे—

योगी युञ्जीत सतत-
मात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा
निराशीरपरिग्रहः॥

गीता ६/१०

मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखने वाला, सांसारिक सुखों की कामना न रखने वाला तथा भोग सामग्री का संग्रह न करने वाला योगी अकेला ही एकान्त स्थान

में स्थित हो निरन्तर परमात्मा का चिन्तन करे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य
स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं
चैलाजिनत्रृणोत्तरम्॥

गीता ६/११

पवित्र भूमि पर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछाकर आसन स्थापित करे तथा वह आसन न तो अधिक ऊँचा हो और न अधिक नीचा ही हो। उसके बाद—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा
यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्या-
द्योगमात्मविशुद्धये॥

गीता ६/१२

उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की समस्त क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ध्यानयोग का अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं
धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं
दिशश्चानवलोकयन्।

गीता ६/१३

प्रशान्तात्मा विगतभी-
र्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो
युक्त आसीत मत्परः॥

गीता ६/१४

युञ्जन्नेवं सदात्मानं
योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां
मत्संस्थामधिगच्छति।

गीता ६/१५

काया, सिर और गर्दन एक सूत्र में समान रूप से रखते हुए स्थिर होकर अपनी नासिका के अग्रभाग में दृष्टि जमाकर उसके अतिरिक्त और कुछ न देखता हुआ ब्रह्मचर्यव्रत का पूर्णरूपेण पालन करता हुआ, भय-रहित तथा भलीभांति शान्त अन्तःकरण वाला, सावधान योगी मन को रोककर मुझ परमेश्वर में चित्त वाला तथा मेरे परायण होकर स्थित होवे। अर्थात् मन को सब ओर से पूरी तरह हटाकर एकमात्र परमेश्वर में अचल स्थापित कर ले।

वश में किये हुए मन वाला योगी इस प्रकार आत्मा को निरन्तर मुझ परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ मुझ में रहने वाली परमानन्द की पराकाष्ठारूप शान्ति को प्राप्त होता है।

संकल्प प्रभवान्का-
मांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं,
विनियम्य समन्ततः।

गीता ६/२४

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया,
धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा,
न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
गीता ६/२५

यतो यतो निश्चरति,
मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदा-
त्मन्येव वशं नयेत् ॥
गीता ६/२६

संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं को पूरी तरह त्याग कर और मन की सहायता से इन्द्रियों को विषयों से हटाकर क्रम-क्रम से अभ्यास करता हुआ चित्त को एकाग्र कर ले और धैर्ययुक्त सात्त्विक बुद्धि के द्वारा मन को परमात्मा में लगा ले, उसके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।

चञ्चल स्वभाव के कारण स्थिर न रहने पर यह मन जिस-जिस शब्दादि विषय के पीछे संसार में भटकता है, उस-उस विषय से रोककर इसे बार-बार परमात्मा में लगाने का अभ्यास करे।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं,
योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्श-
मत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
गीता ६/२८

पाप से रहित हुआ वह योगी इस प्रकार निरन्तर आत्मा को परमात्मा में लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्तिरूप अनन्त आनन्द का अनुभव करता है।

ध्यानयोगी की परमगति—

अभ्यासयोगयुक्तेन,
चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं,
याति पार्थानुचिन्तयन्।
गीता ८/८

हे अर्जुन! परमेश्वर के ध्यानरूप अभ्यास योग से युक्त यह योगी, अन्य तरफ न जाने वाले चित्त से (अनन्य भाव से) निरन्तर चिन्तन करता हुआ परम प्रकाश स्वरूप दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है।

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
गीता ८/९

प्रयाणकाले मनसाचलेन,
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
गीता ८/१०

अतः जो साधक उस सर्वज्ञ, अनादि, सब

पर शासन करने वाले, सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करने वाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्य के सदृश, नित्य-चेतन प्रकाश रूप, अविद्यारूपी अन्धकार से परे शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा का चिन्तन करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकाल में भी साधन-योग के बल से भृकुटी के मध्य भाग में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापित करके फिर निश्चल मन से परमेश्वर को स्मरण करता हुआ उस दिव्य स्वरूप परम-पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो
हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राण-
मास्थितो योगधारणाम्॥

गीता ८/१२

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म,
व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं,
स याति परमां गतिम्॥

गीता ८/१३

हे अर्जुन! सब इन्द्रियों के द्वारों को रोककर तथा मन को हृदय में स्थिर करके अपने प्राणों को भ्रूमध्य में स्थापित करके योग धारण में स्थित होकर 'ॐ' ऐसे इस अक्षर-रूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ परमेश्वर के स्वरूप का चिन्तन करता हुआ शरीर को त्यागता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

वैराग्य की साधना—

गीता में मन पर विजय पाने के लिए दो उपाय बताये हैं—अभ्यास और वैराग्य। यही बात योग दर्शनकार महर्षि पतंजलिदेव ने भी कही है।

स्मरण रहे कि ईश्वर प्राप्ति के निमित्त किया जाने वाला प्रत्येक शुभकार्य (स्वाध्याय, जप, यम-नियमों का पालन एवं ध्यान आदि) अभ्यास कहलाता है और योग-साधन में प्रवृत्ति बनाये रखने तथा ध्यान-स्थिति में परिपक्वता लाने के लिए मन को विषयों से पूरी तरह हटाते हुए इस स्थिति में पहुँच जाना कि—लोक और परलोक के समस्त विषय-भोगों के प्रति मन में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाये वैराग्य कहलाता है। अभ्यास से वैराग्य सिद्ध होता है और वैराग्य से अभ्यास को बल मिलता है।

अब तक अभ्यास की विधि बताई गई, अब आगे विवेकपूर्ण वैराग्य का उल्लेख इसी साधन-योग के अन्तर्गत किया जा रहा है। जैसे:—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यां-
श्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।

प्राणापानौ समौ कृत्वा-
नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥

गीता ५/२७

यतेन्द्रियमनोबुद्धि-
र्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो,
यः सदा मुक्त एव सः ॥

गीता ५/२८

समस्त सांसारिक विषयों को मन से पूरी तरह निकालकर और नेत्रों की दृष्टिको दोनों भौंहों के बीच में स्थित करके तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को वश में करे। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य से जीत ली है। इन्द्रियां, मन और बुद्धि जिसने ऐसी कामना, भय और क्रोध से रहित मोक्ष-परायण मुनि हर तरह से मुक्त ही है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा,
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ॥
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढः पदमव्ययं तत् ॥

गीता १५/५

जिसका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोष को जीत लिया है, जिनकी परमात्मा स्वरूप में नित्य स्थिति है, अर्थात् जो परमात्मा का अनन्य चिन्तन करते रहते हैं और जिनकी कामनायें पूर्णरूप से नष्ट हो गई हैं। वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्व से विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परम-पद को प्राप्त होते हैं।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो,
धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा,
रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥

गीता १८/५१

विविक्तसेवी लघ्वाशी,
यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं,
वैराग्यं समुपाश्रितः ॥

गीता १८/५२

अहंकारं बलं दर्पं,
कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो,
ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

गीता १८/५३

विशुद्ध बुद्धि से युक्त हुआ तथा हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करने वाला, शब्दादि विषयों का त्याग करके एकान्त और शुद्ध देश का सेवन करने वाला, सात्त्विक धैर्य (धारण शक्ति) के द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियों का संयम करके वैराग्य का आश्रय लेने वाला तथा अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग करके निरन्तर

ध्यान-योग के परायण रहने वाला, ममता-रहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में अभिन्न भाव से स्थित होने का पात्र होता है।

फिर वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा में एकीभाव से योगी न तो किसी के लिए शोक करता है और न किसीकी आकांक्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियों में समभाव रखने वाला वह सिद्धयोगी मेरी पराभक्ति को प्राप्त होता है, जिससे कि वह मुझ परमेश्वर में ही मिल जाता है।

उपरोक्त रीति से साधनारत योगप्रेमी साधक को योगसिद्धि के लिए अपने अन्दर जिन विशेष गुणों का अनिवार्य रूप से विकास करना चाहिए और योग-साधना के अनुकूल जिन महत्वपूर्ण नियमों का तत्परता से पालन करना चाहिए उनका वर्णन भी गीता में स्थान-स्थान पर किया गया है। जैसे—

१६वें अध्याय में श्लोक संख्या १ से ४ तक दैवी सम्पदा का वर्णन किया गया है। साधक को चाहिए कि वह इन दिव्य गुणों को अवश्य अपनाये। तभी वह 'सिद्धयोग' का अधिकारी बन सकता है।

१७वें अध्याय में कायिक-वाचिक-मानसिक त्रिविध तप तथा सात्विक आहार का निर्देश किया गया है। १८वें अध्याय में सात्विक कर्म, सात्विक श्रद्धा, सात्विक बुद्धि, सात्विक दान तथा सात्विक सुख का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। ९वें तथा १२वें अध्याय में भक्तियोग का निरूपण करते हुए उसे योग-प्राप्ति का एक सरलतम तथा श्रेष्ठतम साधन बताया गया है। इसी प्रसंग में अनन्य भक्ति की महिमा बताते हुए योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से यह घोषणा करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां,
ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां,
योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

गीता ९/२२

जो भक्तजन अनन्य-भाव से मुझ परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन करते हुए मुझे निष्काम-भाव से भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करने वाले साधकों का योग-क्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।

गीतामें भक्त की चार श्रेणियां बताई हैं—

१—आर्त (दुःखी)

२—जिज्ञासु (ज्ञान प्राप्ति का इच्छुक)

३—अर्थार्थी (धन-सम्पत्ति को चाहने वाला)

४—ज्ञानी (ईश्वर को तत्व से जानने वाला)

इन चारों प्रकार के भक्तों में ज्ञानी को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जगदात्मा श्रीकृष्ण ने ज्ञानी भक्त को अपनी आत्मा कहा है।

क्रिया योग

—श्री गिरीशदेव वर्मा

शारीरिक तप —

देव द्विज गुरु प्राज्ञ,
पूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्य महिंसा च,
शारीरं तप उच्यते ॥

(१) द्विज पूजन —

द्विज कौन है ? बालक जब बड़ा होता है तब गुरु के पास जाता है। गुरु उसे मंत्र देकर दीक्षित करता है। उस समय उसका दूसरा जन्म होता है और वह द्विज कहलाता है। वह यज्ञोपवीत धारण करके वेद-शास्त्र का अध्ययन करता है और योग साधन द्वारा उसका काया पलट हो जाता है। ऐसा ब्रह्म-निष्ठ श्रोत्रिय ब्राह्मण ही द्विज है और पूजने योग्य है। उसकी पूजा कैसे की जावे ? इस सम्बन्ध में उपनिषद् मार्ग दर्शन करता है—

तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम् ।

अर्थात् आत्मा व परमात्मा का विज्ञान पाने के लिए समित्पाणि होकर हाथमें समिधा

[पिछले पृष्ठ का शेष]

योग की दिव्यता, पवित्रता तथा योगी की श्रेष्ठता

९वें अध्याय के दूसरे श्लोक में योग को सभी विद्याओं का राजा, परम गोपनीय, परम पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फल देने वाला, धर्मयुक्त, साधन करने में सबसे सरल और अविनाशी कहा गया है तथा छठे अध्याय के ४६वें श्लोक में योगी की श्रेष्ठता बतलाकर योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय भक्त अर्जुन को योगी बनने की सलाह दी है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

गीता ६/४६

योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, शास्त्रों का ज्ञान रखने वालों से योगी श्रेष्ठ है, सकाम-कर्म करने वालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है, इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी बन ।

अतः कहा जा सकता है कि— गीता योग विद्या का एक अनुपम ग्रन्थ है। निस्सन्देह ! इसके दिव्य योगोपदेशों पर आचरण करता हुआ मानव अपने इस जीवन को सुखी बना कर अन्त में मोक्ष का भागी बन सकता है।

लेकर, सिर झुकाकर, विनम्र बनकर उनके पास जावे, जो श्रोत्रिय हैं, अर्थात् जिन्हें चारों वेदों का ज्ञान है और जो त्रिकाल के स्वामी हैं और जो ब्रह्मनिष्ठ हैं यानी जिन्होंने ब्रह्म को पा लिया है, आत्म-दर्शन कर लिया है।

गीता भी कहती है कि—

> तद्विद्धि प्रणिपातेन,
> परिप्रश्नेन सेवया।
> उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं,
> ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
>
> गीता ४/३४

अर्थ—तत्त्व-ज्ञानी पुरुष के पास जाकर दण्ड-प्रणाम करना चाहिए और उनकी सेवा करनी चाहिए और निष्कपट भाव से उनसे प्रश्न करना चाहिए। ऐसा करने पर वे मर्म को जानने वाले ज्ञानीजन ज्ञान का उपदेश करेंगे।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी मानस-रचना के आरम्भ में ब्राह्मणों को महीसुर की वन्दना की है, क्योंकि द्विज ब्राह्मण ही मोहसे उत्पन्न सब शंकाओं को हरने वाले हैं।

> बन्दउँ प्रथम महीसुर चरना।
> मोह जनित संशय सब हरना॥

भगवान् श्रीराम ने लक्ष्मण जी को भक्ति का स्वरूप बताते हुए विप्र-चरन प्रीति को पहला साधन बताया है। यथा—

> भगति कि साधन कहउँ बखानी।
> सुगम पंथ मोहि पावहि प्रानी॥
> प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीती।
> निज-निज कर्म निरत श्रुति रीती॥

अतः हमारे लिए शिक्षा-दान देने वाले, ज्ञान प्रदान करने वाले, पथ प्रदर्शक, मार्ग-दर्शक ब्राह्मण भी पूजनीय हैं। उनकी यथार्थ पूजा करना व सत्कार करना भी एक तप है।

(२) गुरु-पूजन—

'गु' माने अन्धकार और 'रु' माने रोकने वाला अर्थात् अन्धकार को दूर करने वाले को गुरु कहते हैं। इहलोक तथा परलोकके समस्त अर्थों को समझने वाला तथा दुःखों का निवारण करने वाला गुरु कहलाता है। दैहिक, दैविक, भौतिक इन तीनों का ज्ञान कराकर सुख में जो स्थिर करे उसे गुरु कहते हैं। गायत्री मन्त्र आदि महामन्त्रों की दीक्षा देकर शिष्य को जो सदाचार की ओर प्रवृत्त करे उसे गुरु कहते हैं। जो संसारी माया-जाल में फंसे हुए शिष्य को ज्ञान-मार्ग द्वारा दुःखमय संसार से परित्राण करे उसे गुरु कहते हैं। जो शिष्य को आध्यात्मिक मार्ग में प्रवृत्त करके आत्मोन्नति का मार्ग दिखावे उसे गुरु कहते हैं।

गुरु तीन प्रकार के होते हैं—दीक्षा-गुरु, साधन-गुरु और ब्रह्म-गुरु। यह तीनों गुरु एक व्यक्ति भी हो सकता है और तीन व्यक्ति भी।

(१) उपनयन संस्कार के समय जो कान में मन्त्र देकर दीक्षा देता है, उसे दीक्षा-गुरु कहते हैं।

(२) जो शिष्य को अपने साथ आश्रम में रखकर उसे साधन सिखाता है और योग की क्रियायें बताता है, उसे साधन-गुरु कहते हैं।

(३) शिष्य जब साधन-सम्पन्न हो जाता है तब उसे दृष्टि से, स्पर्श से या ध्यान से जो ब्रह्मनिष्ठ बना देता है और आत्म-साक्षात्कार करा देता है उसे ब्रह्म-गुरु कहते हैं।

गुरु सेवा का महत्व बहुत भारी है। मनु-स्मृति में लिखा है कि जो मनुष्य जीवन-पर्यन्त गुरु-सेवा करता है, वह अनायास ही ब्रह्म के शाश्वत धाम को प्राप्त करता है। जिस प्रकार हिन्दू समाज में प्रति वर्ष भगवान राम व भगवान कृष्ण की जयन्ती बड़े उत्साह व समारोह से मनायी जाती है, उसी प्रकार शिष्य का कर्तव्य है कि वह भी प्रति वर्ष अपने साक्षात् परब्रह्म स्वरूप गुरुदेव की जयन्ती मनाया करे और गुरु-पूजा किया करे। गुरु-जयन्ती गुरु जन्म के दिन और गुरु-पूजा आषाढ़ पूर्णिमा को करनी चाहिए।

धर्मशास्त्र चिन्तामणि में गुरु-उपासना का बड़ा सुन्दर विधान दिया गया है। उसमें लिखा है कि—

शिष्य को गुरु के चरणोदक का पान, गुरु का उच्छिष्ट (जूठा) भोजन, गुरु-मूर्ति का ध्यान और गुरु स्तोत्र का सर्वदा पाठ करना चाहिए। गुरुके खड़े होने पर शिष्य उसी क्षण खड़ा हो जाय, उनके बैठने पर बैठे, उनके शयन करने पर चरण-सेवा करे और उनके चलने पर पीछे-पीछे चले। शरीर, वाणी, बुद्धि, चक्षु इत्यादि इन्द्रिय-समूह और मनको संयममें रख श्री गुरुदेव के मुखकी ओर ध्यान लगाते हुए सर्वदा करबद्ध होकर खड़ा रहे। गुरु के समीप साधारण भोजन करना और साधारण वस्त्र पहिनना चाहिए। गुरु के उठने के प्रथम उठना और गुरु के शयन करने के बाद शयन करना चाहिए। गुरु के सामने उनसे नीची शय्या पर शयन करना, नीचे आसन पर बैठना चाहिए।

सदा गुरु के फोटो का ध्यान, गुरु-नाम का जप तथा गुरु-आज्ञा का परिपालन करना चाहिए। गुरु स्वरूप में स्थित परब्रह्म तत्त्व की प्रसन्नता गुरु की प्रसन्नता से हो सकती है। अतः शिष्य को गुरु से कभी अपने आश्रम, विद्या, जाति और कीर्ति का अहङ्कार नहीं करना चाहिए। गुरु को भूलकर भी मनुष्य नहीं समझना चाहिए। गुरु के समीपवर्ती रहने पर भी शिष्य दूसरे देवता की पूजा करता है वह नरक का भागी होता है।

गुरु के लक्षण क्या हैं? तथा कौन श्रेष्ठ गुरु है? और कौन निन्दनीय है? इसका

वर्णन गुरु-गीता, तन्त्रराज आदि ग्रन्थों में दिया हुआ है।

गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में अनेकों कथायें व सत्य घटनायें भी पाई जाती हैं। उनका वर्णन करके मैं लेख का विस्तार नहीं करना चाहता। गुरु-पूजन एक महान् तप है। गुरु-पूजन करके तथा गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा, विश्वास रख कर अनेक मनुष्यों ने सिद्धि प्राप्त की है। योग के अभ्यासी को गुरु-पूजन रूपी तप अवश्य करना चाहिए।

(३) प्राज्ञ-पूजन —

प्राज्ञ कौन है ? वह जिसकी प्रज्ञा बुद्धि जाग उठी है। बुद्धि पांच प्रकार की होती है—बुद्धि, सुबुद्धि, मेधा, सुमेधा और प्रज्ञा। प्रज्ञा बुद्धि, वह है जिसमें तमोगुण नष्ट हो गया हो, ऐसे व्यक्ति को प्राज्ञ कहते हैं। उच्च-कोटि के विद्वान, आविष्कार, विज्ञान-वेत्ता तथा आत्मदर्शी प्राज्ञ कोटिमें आते हैं। इनका आदर करना, इनकी तन-मन धन से सेवा करना, इनके कार्योंमें हर प्रकार की सहायता करना इनकी पूजा है।

चाणक्य ने लिखा है कि राजा की पूजा तो उसके देश में ही होती है, किन्तु विद्वान् सर्वत्र पूजा जाता है। जिन वैज्ञानिकों ने बिजली, रेडियो, वायुयान आदि का आविष्कार किया है, उन्होंने जन-कल्याण का कितना भारी काम किया है, यह सोचने की बात है। आज बिजली ने घरों, मन्दिरों, आश्रमों, कारखानों में प्रवेश करके अन्धकार को दूर कर दिया है। दूर-संचार व दूर-दर्शन ने वार्त्तालाप की दूरी को कितना समीप ला दिया है। वायुयानों व राकेटों के आविष्कार से यात्रा कितनी सुलभ, अल्प समय वाली हो गई। आप भारत में सोकर उठें और इंगलैण्ड में चाय पियें और अमरीका में जाकर कार्यालय में कार्य कर सकते हैं। जिन मनीषियों ने छापेखाने को ईजाद करके पुस्तकों, पत्रिकाओं आदि के प्रकाशन को सुलभ कर दिया है, वे कितना महान् काम कर गये हैं। यह विचार करने पर ही समझ में आता है।

ऐसे सभी विद्वानों के प्रति आदर भाव रखना, उनकी हर प्रकार सेवा करना ही उनका पूजन है और यह भी एक तप है जिसे साधक को करना चाहिए।

शारीरिक तप के अन्तर्गत देवताओं, ब्राह्मणों, गुरुजनों तथा विद्वानों का पूजन पहिला तप है। दूसरा तप का साधन शौच है। इसके सम्बन्ध में आगे बतायेंगे।

मानस-ज्ञान

● श्री गौरीशङ्कर द्विवेदी 'शङ्कर'

अवध वहीं हो है जहाँ, सीता-राम-निवास,
सेवा-रत रहकर सदा, रखना दृढ़-विश्वास।
आत्मशुद्धि के लिए हों, सात्त्विक, शुद्ध विचार,
आगम-निगम पुराण प्रिय, यही ज्ञान का सार।
आत्म-शुद्धि साधक करे, बढ़ा-बढ़ाकर ज्ञान,
सांसारिक गुण-दोष पर, देवे कभी न ध्यान।
आत्म-शुद्धि से हृदय में, आता विशद-विवेक,
दे सकता धोखा नहीं, माया-हत अविवेक।
इन्द्रिय निज वश में करे, दे विषयों को त्याग,
प्रभु-पद-पद्मों में तभी, है सम्भव अनुराग।
ईश्वर, ब्रह्म अनादि है, अविगत, अलख, अनूप,
साधक समझें सुमति से, वह अविकारी रूप।

उत्तम-जन करते सदा, परोपकार के कर्म,
विश्व-प्रशंसित है, यही शुद्ध-सनातन-धर्म। ■

गीता-ज्ञान

अमर आत्मा अनश्वर, नश्वर नर, नर देह,
युग-युग यह क्रम नियति का, निश्चित निस्संदेह।
अन्य धर्म से धर्म निज, देता सिद्धि सुयोग,
अतः सुजन हो दत्तचित्त, करते धर्म प्रयोग।
आत्म-शुद्धि हित चाहिए, गुरु-गीता का ज्ञान,
जिससे जग-जीवन बने, सार्थक सिद्ध समान।
आलस और प्रमादवश, साधन-शुभ-संयोग,
तजे नहीं, तृष्णा तजे, तज फल इच्छा-भोग।
आत्म-ज्ञान साधन करे, सफल साधना अर्थ,
स्वयम् साधना से बनें, साधक सिद्ध समर्थ।
इन्द्रिय का करके दमन, इच्छायें दे त्याग,
निर्मल-मन पाता स्वयं, तब सद्पथ अनुराग।

इन्द्रिय-निग्रह कर करे, जप, तप, संयम, यज्ञ,
जिससे साधक बन सके, रहे नहीं जड़-अज्ञ। ■

'सिद्धयोग' की साधना व उपलब्धि

श्री डा० विजयसिंह, गोरखपुर

यथार्थतः इस विषय पर कुछ भी कहने का अधिकार मात्र सिद्धों व उनकी कृपा को अनुभव करने वाले साधकों को ही है। यह योग अत्यन्त सहज है, क्योंकि योग भूमिकाओं की उपलब्धि सद्गुरु-कृपा पर ही निर्भर करती है। हाँ! सद्गुरु प्राप्ति वाली बात अलग है। सिद्ध की उपलब्धि की दुरूहता अपनी जगह है। अगले अङ्क में योग-शिखोपनिषद् एवं साधकों के जीवन में नित्य घटने वाली अनुभूतियों के आधार पर 'सिद्धयोग' के विषय में कहा गया है। अनेक विद्वानों ने एक मत से स्वीकार किया है कि सिद्धाश्रम न तो लौकिक अणुओं की ही रचना होती है और न अलौकिक सूक्ष्म अणुओं की ही। सिद्ध लोक स्थूल एवं अस्थूल दोनों प्रकार से व्यवहृत होते हुये देखे गये हैं। अतः सिद्धों की शक्ति की सीमा नहीं है। वस्तुतः सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, पालनकर्ता श्री विष्णु एवं संहारकर्ता भगवान शिव स्वयं अनादि-सिद्ध महापुरुष हैं। भगवान कपिल, ऋषि नर-नारायण, अगस्त्य, लोमश आदि सभी ऋषि सिद्ध पुरुष हैं। जिनका जीवन पूर्णरूपेण योग-शक्ति-सम्पन्न है। वे सभी स्वयं ईश्वर हैं। भगवान पतंजलि जी सिद्ध एवं ईश्वर में भेद बताते हुए कहते हैं कि दोनों में शक्ति-सम्पन्नता का कोई भेद नहीं है। मात्र, सिद्ध हुए योगी, जन्म लेते हैं और योग साधन सम्पन्न होकर क्लेशों से मुक्त हो जाते हैं। परन्तु ईश्वर अजन्मा है तथा कभी अविद्यादि क्लेशों से ग्रसित नहीं हुआ है। अतः जीव के दृष्टिकोण से अनादि सिद्ध सभी पुरुष स्वयं ईश्वर हैं। सिद्ध-संयोग स्वतः एवं सहज ही जीव को मोक्ष द्वार पर पहुँचा देता है।

इस साधना का मूल क्रम सिद्ध सद्गुरु की कृपा व शक्ति-सञ्चार पर ही निर्भर करता है। जिस प्रकार से पकवान इत्यादि दाता की कृपा से किसी को प्राप्त हो जाये तो उस लकड़ी, चूल्हे, बरतन एवं सामग्री की उपलब्धि में होने वाले कष्टों से छुटकारा मिल जाता है। उसी प्रकार सिद्ध-संयोग प्राप्त होने से साधक की भटकाव एवं अन्तरायों की प्रधान बाधा समाप्त हो जाती है, परन्तु इससे यह आशय कदापि ग्रहण नहीं करना चाहिए कि अपात्र साधक सिद्धता एवं मोक्ष को मनमानी करते हुए प्राप्त कर सकेगा। जब भी सिद्ध-कृपा व शक्ति-सञ्चार किया जाता है तब

यहां साधक में मौलिकस्वरूप का होना भी आवश्यक है। वह गुरुमुख हो, आज्ञाकारी, विनीत एवं सिद्ध सतगुरु को ही सब कुछ समझने वाला हो। सिद्धमार्गी अनुगामिनी सहजो स्पष्ट कहती है कि—

गुरु मग पग राखिये,
डिग-मिग डिग-मिग छांड़ि।

सिद्ध सतगुरु की कृपाओं को प्राप्त करने हेतु मूल्य चुकाना होगा, यह विषयान्तर की बातें होंगी जिसे अन्य लेख में लिखा जावेगा। सिद्ध-मार्ग को सहज-मार्ग भी कहा गया है। ऐसा देखा गया है कि गुरु-कृपा से श्वास-प्रश्वास, मन्त्र, जप-भावना भी स्वयं होने लगती है। आगे की योग प्रक्रियायें, संयम निवृत्ति, सब कुछ श्री गुरुदेव के मौन आभ्यान्तरिक लीलाओं द्वारा स्वतः साधक को होता रहता है। कठिन से कठिन योग-क्रियायें साधक के अन्दर से होने वाली प्रेरणा से स्वतः होने लगती हैं। अतः साधना की स्वाभाविक रुचि होने के कारण साधना-जनित कष्ट एवं उसकी दुरूहता का भान नहीं होता। हां! यह अवश्य है कि सिद्ध सतगुरु की कृपा से साधक में जब स्वतः आसन, वेद, अंग संचालन तथा नाना प्रकार की क्रियायें व तीव्र ध्यानानुभूति का जागरण व विचित्र शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाओं का उदय हो तो साधक को उसे अपने हठ से रोकने पर कभी-कभी अस्वाभाविक मानसिक अशान्ति भी उत्पन्न हो जाती है। सतगुरु की कृपा से शक्ति-सञ्चार के द्वारा सिद्धमार्ग प्राप्त होने पर एकमात्र गुरूपदिष्ट मन्त्र, जप या ध्यान के द्वारा ही वांछित योग-सिद्धि प्राप्त होती है।

संक्षेप में जीव के अधःपतन का कारण क्या है? सिद्ध मार्ग द्वारा आनन्द कैसे प्राप्त होता है? सद्गुरु की शक्ति-संचार क्या है? सिद्ध-मार्ग में कैसे स्वतः प्राण-निरोध हो जाता है यह जानना समीचीन होगा। इस विषय पर परम करुणार्णव जगतबन्धु अनादिसिद्ध श्री महाप्रभु जी ने स्वतः प्रकाश डाला है। वह इस प्रकार से है—

जीव की विषयों में आसक्ति ही उसके अधःपतन का कारण है। विषयोंमें यह गुण है कि वह आरम्भ में आनन्द देते हैं। जब कुछ समय सेवन कर लिया जावे तो उसी विषय से व्यक्ति को अरुचि अर्थात् उस विषय के दोष दिखायी पड़ने लगते हैं। पहले आनन्द प्राप्त होने से विषय में प्रेम होता है, फिर उसी से द्वेष होने लगता है। यह राग-द्वेष का चक्र विषयों के लाखों नाम-रूपों द्वारा मानव अपने मन एवं इन्द्रियों द्वारा प्रतिक्षण बना रहा है। मन का स्वभाव नकद धर्मी है, अर्थात् प्रत्यक्ष धर्मी है। मन को जिस काम से प्रत्यक्ष में फल प्राप्त होता है, उसके लिए वहीं लोभ स्वतः ही बन जाता है (इसी

कारण जब जीव को सिद्धकृपा से प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ तत्काल हो उठती हैं तब वह स्वयं उत्साहपूर्वक साधना रत हो उठता है। अन्यथा शुष्क अनुभूति आनन्दहीन साधना से साधक घबराकर उसे छोड़ देता है और विषयों से जो क्षणिक आनन्द प्राप्त होता है उसी को भोगने में संलग्न रहता है। ज्यों-ज्यों बाह्य नाम-रूपों से वासनाओं का घना जंगल बनता जाता है, त्यों-त्यों ईर्ष्या, मत्सरता, कपट, क्रूरता, आलस्य, प्रमाद आदि भयङ्कर डाकू बढ़ते जाते हैं। अविद्यादि का अन्धकार इस प्रकार घनघोर रूप में छाया रहता है कि ज्ञान रूपी सूर्य के निकलने की आशा ही नहीं रहती।

मानव मन आनन्द की तलाश में है। आनन्द ही आत्मा का स्वभाव है। अतः हम सदैव आनन्द की खोज एवं प्राप्ति में लगे हुए हैं। जैसा कि बताया जा चुका है कि मन का स्वभाव प्रत्यक्ष धर्मी है। यह वहीं सतत भाव से लग सकता है जहाँ प्रत्यक्ष में रस मिले। सिद्धों ने जीव के उद्धार हेतु एक युक्ति निकाली, जिससे जीवको प्रत्यक्ष में ही परमानन्द की प्राप्ति हो सके। "विषस्य विषमौषधम्" के सिद्धान्त से सिद्ध योगियों ने नाम-रूप के संस्कार-चक्र को नाम-रूप से ही नष्ट करने का विधान बनाया। जिस नाम-रूप से मन विषयों की ओर प्रवृत्त होता रहा था, जिसके फलस्वरूप अधोगति को प्राप्त हो शोक-सागर में निमग्न था, उन्होंने (सिद्धों ने) नाम-रूप से ही परमानन्द में मग्न करने की युक्ति निकाली—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्

अब जिस समय मानव संसार के राग-द्वेष से घबराकर दुःखित हुआ आनन्द की जिज्ञासा लेकर सिद्ध योगियों के चरणों में पहुँचता है तो मन्त्रद्रष्टा दिव्यदृष्टि प्राप्त गुरु उसके पूर्व जन्मार्जित अन्तःकरण के संस्कार-चक्र को देखकर निश्चित करते हैं कि यह पिछले जन्मों में किस प्रकार की साधना से युक्त रहता है तब वे साधक के मन को अभिमन्त्रित कर देते हैं। निश्चय जानिये कि सिद्ध सतगुरु वही है जो मन को मंत्रमय कर दें, ध्यान से ध्याता को ध्येय में लय करा दें। मनुष्य का मन चञ्चल इसलिए है कि उस परमानन्द की झलक नहीं प्राप्त हुई है। यदि उसको परमानन्द की झलक दिखा दी जाय तो मन की चञ्चलता आदि सब दोष स्वतः नष्ट हो जावेंगे।

सिद्ध गुरुदेव द्वारा सञ्चारित दिव्य-शक्ति साधक को ईश्वरीय शक्तियों के किसी स्वरूप में और उसके किसी नाम में लगाती है जिससे साधक का मन नाम में दृष्टि उस स्वरूप दर्शन में लय होकर वृत्ति अन्तर्मुखता को प्राप्त होती है। यहाँ ध्वन्यात्मक नाम की ध्वनियों में सिद्ध-पुरुष साधक को आनन्द का प्रत्यक्ष कराते हैं। साथ ही निरन्तर अपनी कृपा शक्ति के प्रभाव

से नाम में रूप की प्रतीति कराते हैं और उस स्वरूप में देवत्व, गुरु की संकल्प शक्ति से प्रकट होता है। देवत्व के प्रकट होने से वह दिव्य स्वरूप ईश्वरीय शक्तियों का सागर होता है। बारम्बार साधक का मन एक से विचारों को श्वासोंमें पिरोकर आकर्षण करना प्रारम्भ करता है तो ईश्वरीय शक्ति की झलक अनुभव में आने लगती है। प्रत्यक्ष में आनन्द की प्राप्ति से दृढ़-विश्वास होता है। दृढ़-विश्वास से विचार-शक्ति बलशाली होकर इच्छित प्राण-शक्ति को बलवती बनाती है। जिसके फलस्वरूप मनकी एकाग्रता एवं आनन्द उदय होता है। आगे ईश्वरीय विचारों की तीव्र आकांक्षा होती है, जिससे श्वास के आकर्षण के द्वारा दिव्य नाम-रूप में छिपे हुए विचार भी आने लगते हैं। ऐसे विचार जैसे-जैसे आते हैं, वैसे-वैसे अपना स्थान बनाते हुए विरुद्ध विचारों को वे निकालते चले जाते हैं। जिसके परिणाम से विषयों में प्रवृत्त करने वाला नाम रूप का दरवाजा बन्द हो जाता है और अन्तःकरण पूर्णरूपेण शुद्ध, पवित्र हो जाता है जहां ईश्वर का साक्षात् भास होने लगता है।

साधक पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध सद्गुरु प्रदत्त साधनानुभूति से ज्यों ज्यों उत्तरोत्तर अधिक आनन्द को प्राप्त होता है त्यों उतना ही प्यारे प्रभु से मिलने की आकांक्षा तीव्रतर होने लगती है। इसके फलस्वरूप साधक का मन देवत्व अवस्था में आ जाता है, उसे सिद्ध पुरुषों के दर्शन होने लगते हैं। देवगण प्रसन्न होकर साधक को वर प्रदान करते हैं। अब साधक निश्चिन्त होकर आनन्द में निमग्न रहता है, उसे सर्व शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं। देवगण उसकी स्तुति करते हैं, परन्तु साधक तो प्रकाशों के प्रकाशक नाम-रूप के कर्ता गुरु-तत्त्व में लीन रहता है।

श्री प्रभु जी कहते हैं कि जब साधक प्रकाश स्वरूप सूर्यों के सूर्य को अपने अन्दर प्राणों में स्थित करता है, उस समय अपने स्वरूप को लय करके ध्येय रूप में हो जाता है। इस अवस्था में वह सर्व भूतों को, सर्व देवताओं को और सारी सृष्टि को अपने अन्दर देखता है। जब श्वास बाहर जाते हैं, तो ब्रह्माण्ड में उसके प्रकाशमयी श्वास लय होते दीखते हैं। श्वासों के साथ प्रकाशमय व्यापक श्री प्रभु भी संसार में, ब्रह्माण्ड की रचना, उत्पत्ति, प्रलय में, प्रकृति के परमाणुओं में दीखते हैं। ऐसी अवस्था में साधककी स्वासों की गति बढ़ जाया करती है। जब आनन्दमय श्वास अन्दर आते हैं तब पूरक होता है। जब साधक प्राणों के प्राण-रूप प्रभुको हृदय क्षेत्र में बैठाता है तब कुम्भक होता है। जब प्राणमय श्वास बाह्य ब्रह्मांड में लय होते हैं तब रेचक होता है। इस प्रकार सिद्ध-कृपा से स्वतः मंत्र-युक्त प्राणायाम साधक को होता है।

इस प्राणायाम के फलस्वरूप सारे संस्कार-मल-विकार नष्ट हो जाते हैं और एक दिन श्री प्रभुकी कृपा से साधक अपने परम-लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। ★★

प्रत्याहार क्यों एवं कैसे ?

ब्रह्मचारी श्री वीरेन्द्रस्वरूप, श्री सिद्धगुफा, सवाई, आगरा

मनुष्य योनि एक ऐसी योनि है जिसको प्राप्त करने के लिए देवता लोग भी लालायित रहा करते है। वे इसकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। वह शुभ घड़ी कब आयेगी जब हम मानव शरीर धारण कर जन्म लेंगे। यद्दपि उन्हीं आत्माओं की पुकार—

गायन्ति देवा किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारत-भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गा स्पद हेतु भूतः,
भवन्ति भूयः पुरुषः सुरत्वात्॥

यद्यपि उन लोगों को मनुष्य लोक से अधिक सुख-सुविधायें प्राप्त है, किन्तु पुण्य के क्षीण हो जाने पर पुनर्जन्म होना ही होगा। इसी भय से वे लोग त्रस्त हैं।

कदाचित् ईश्वर की कृपा हो जाय तो उनका भविष्य अनन्त सुख की प्राप्ति का द्वार उनके लिए खोल देता है। वे अपने को कल्याण-भाजन बना सकते हैं, किन्तु ऐसे सौभाग्य से प्राप्त दुर्लभ मनुष्य जन्म को अत्यन्त सावधानी से उपयोग में लाना चाहिए, क्योंकि कर्म करने का अधिकार केवल मनुष्यमात्र को है। इतर योनियां, भोग योनियां हैं, उनमें नया कर्म नहीं बन सकता, केवल भोगों को ही भोगा जा सकता है। अतः मनुष्य जन्म पुरुषार्थ के द्वारा कर्म करने से बनता है, अतः सावधान हो जाइये। क्योंकि-

गहना कर्मणो गतिः

कर्म की गति अत्यन्त गहन है। मनुष्य जन्म को पाकर हमें क्या करना चाहिए और क्या क्या नहीं करना चाहिए। इसको ठीक-ठीक समझ लेना साधारण मानव के लिए अत्यन्त कठिन है। यद्दपि कर्म के मर्म के व्याख्याता जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के शब्द—

कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं-
बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं
गहना कर्मणोगतिः॥

अर्थात् कर्त्तव्य कर्म को भली प्रकार समझ लेना चाहिए उसी प्रकार विकर्म के रहस्य को भी समझ लेना परमावश्यक है तथा न करने योग्य कर्म को भी जानना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति अत्यन्त गहन है।

कर्त्तव्य कर्म के निश्चय के लिए जगदात्मा श्रीकृष्ण आदेश देते है—

तस्मात् शास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ ।

कर्तव्य कर्म के निश्चय के लिए हमारे आचार्यों, महर्षियों के द्वारा प्रणीत आर्षग्रन्थों का प्रमाण लेना चाहिए। अतः मनुष्य के लिए पुरुषार्थ क्या है? इस पर विचार कर लेना हमारा कर्तव्य हो जाता है।

पुरुषेणाऽर्थ्यते प्रार्थ्यते इति पुरुषार्थः

इस व्युत्पत्ति के अनुसार मनुष्य जिसकी इच्छा करे वह पुरुषार्थ कहा जायेगा। अब विचार करके देखा जाय, तो संसार में केवल मनुष्य ही नहीं अपितु जितने भी प्राणी हैं सभी सुख को ही चाहते हैं। अतः सुख ही पुरुषार्थ है यह निश्चित हो गया।

यद्यपि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के भेद से पुरुषार्थ के चार भेद कहे गये हैं। तथापि विचार करने पर चतुर्थ मोक्ष सुख ही पुरुषार्थ सिद्ध होता है, सभी दुःखों से मुक्ति चाहते हैं, अतः धर्म, अर्थ और काम यह तीनों पुरुषार्थ नहीं। ये तीनों तो मोक्ष सुख पुरुषार्थ के साधन मात्र हैं। साधन से साध्य भिन्न है। ये तीनों साधन होने के कारण मनुष्य इनका अनुकरण करके अनन्त सुख-लाभ करेगा, इसलिये इन्हें गौण पुरुषार्थ कहा जा सकता है।

यदि यह कहें कि मनुष्य जिसको चाहे वह पुरुषार्थ है और पुरुष तो सुख को ही चाहता है, अर्थ, धर्म को नहीं तो अर्थ, धर्म पुरुषार्थ कैसे? तो इसका समाधान यह है कि साधन के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती है। अतः साध्य को प्राप्त करने के लिए पुरुष साधन को भी चाहता है। अतः साधन भी पुरुषार्थ कहलाता है, परन्तु मुख्य नहीं, अपितु गौण पुरुषार्थ कहलाता है। मुख्य तो सुख ही पुरुषार्थ है। सुखों में अस्थायी विषय सुख-रूप काम भी मुख्य पुरुषार्थ नहीं है, क्योंकि सभी पुरुष यह चाहते हैं कि हमारा सुख कभी नष्ट न हो, सदा बना ही रहे तो ऐसा केवल एक नित्य मोक्ष सुख है, जो सदा बना रहता है, शेष अन्य सुख तो कुछ काल के बाद नष्ट हो जाने वाले, अन्त वाले हैं। अतः मोक्ष सुख ही मुख्य परम पुरुषार्थ है।

अब यह निश्चित हो गया कि मोक्ष की प्राप्ति होना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। इसके पश्चात् मन में यह विचार आता है कि यदि मोक्ष की प्राप्ति ही पुरुषार्थ है और मोक्ष की प्राप्ति भी दुर्लभ है तो पहले हम यह देखेंगे कि मोक्ष और मनुष्य के बीच की रुकावट क्या है? जो कि मोक्ष की प्राप्ति में बाधा उपस्थित करती है। हमारे शास्त्रों का उपदेश है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः ।

मनुष्य का मन ही उसके बन्धन एवं मोक्ष का कारण है। जब मनुष्य स्वभावतः कोई कर्म करता है तो उस कर्म की छायारूप वासना उसके अन्तःकरण में बनती रहती है। यह तीन प्रकार के कर्मों का परिणाम है जो कि शुक्ल, कृष्ण और शुक्ल कृष्ण मिश्रित कहे जाते हैं। जब तक इन अन्तःकरण में स्थित कर्माशयों का क्षय नहीं हो जाता और जीव अपने अनेक जन्मों में संचित संस्कारों, से जोकि अन्तःकरण में रहते हैं, अपने आपको खाली न करले तब तक मोक्ष-पद की वह कल्पना भी नहीं कर सकता, उसको प्राप्त करना तो बहुत दूर रहा।

अतः अब हमारे लिए विचारणीय है कि इन कर्मों की उत्पत्ति कहां से होती है। यदि कर्मों का बनना बन्द हो जाय तो हमारी कुछ समस्या हल हो जायेगी। कर्मों का आविर्भाव इन्द्रियों द्वारा मूढतापूर्वक सुख को ढूंढने में होती है।

हमारे नेत्र सुन्दर बाहरी दृश्यों को देखने का कार्य करते हैं। कान सुन्दर एवं मधुर ध्वनि के श्रवण में लगा रहता है। नासिका उत्तम घ्राण की तलाश में लगी रहती है। त्वचा सुखद स्पर्श के लिए व्याकुल रहती है। जिह्वा उत्तम रसों के लिए भटकती रहती है। यही हैं हमारे कर्माशयों के जनक जोकि आज हमें इस घोर दुःख में लाकर डाल दिया है।

कठोपनिषद् में इन्द्रियों की इस विलक्षता के विषय में स्पष्ट लेख मिलता है। पढ़िये—

पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभू,
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

—कठोपनिषद्

अर्थात् परमात्मा ने हमारी इन्द्रियों को बाहर की ओर बनाया है, इसलिए पराङ्-पश्यन् का कार्य करती हैं और मनुष्य अपने भीतर स्थित आत्मा को नहीं देख पाता। कोई धीर पुरुष ही आवृत्त चक्षु हो करन, आंखों को बन्द करके अमृतत्व की इच्छा करता हुआ प्रत्यक् आत्मा को देख पाता है।

अतः अब यह पूर्वोक्त से स्पष्ट हो गया कि हमें मोक्ष के अनन्त सुख से दूर करने वाली हमारी बहिर्मुखी इन्द्रियां हैं। यदि हम इनके बहिर्मुखी प्रवाह को रोक करके इन्हें अन्तर्मुखता की ओर गमन करने वाली बना लें, तो हम अनन्त सुख मोक्ष की प्राप्ति कर सकेंगे। ब्रह्मचर्य एवं मोक्ष के अधिकारी पवित्रात्मा नचिकेता ने इन्द्रियों की बहिर्मुखता के दुष्परिणाम का विचार करके यमराज द्वारा विलास भोग का लालच देने पर भी स्वर्गादिक दुर्लभ भोगों को ठुकरा दिया। पढ़िये यमराज—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्य लोके,
सर्वान्कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथा सतूर्या,
नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व,
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥

—कठोपनिषद्

अर्थात् हे नचिकेता ! मृत्यु लोक में जो भोग नहीं प्राप्त होते हैं, उन सारे भोगों को तू मेरे से एक-एक करके सब मांग ले । सुन्दर रमणियां जो कि दिव्य रथों एवं वाद्यों से सुसज्जित हैं और इस प्रकार की रमणियां जो मनुष्यों को दुर्लभ हैं मेरे द्वारा दिये हुए से तुम अपनी सेवा कराओ, मैं तुम्हें दिव्य भोगों को भोगने वाला बनाये देता हूँ किन्तु तुम यह मत पूछो कि मरने के बाद क्या होता है ?

यमदेव के ऐसा कहने पर इन भोगों से उत्पन्न होने वाली इन्द्रिय चंचलता को समझ कर नचिकेता यमराज को उत्तर देता है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्,
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव,
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥

—कठोपनिषद्

अर्थात् यह भोग अन्त वाले क्षणभंगुर हैं और सभी इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर देने वाले हैं । इसलिये यह दीर्घ आयु भी इन भोगों से क्षीण होकर थोड़ी हो जावेगी । अतः ये आपके नृत्य-गीत एवं वाहन आपके ही पास रहें हमें नहीं चाहिए ।

अतः इन्द्रियों के स्वाभाविक प्रवाह को रोकना ही हमारा कर्तव्य हो जाता है । जिसे भगवान् पतंजलि जी ने योग दर्शन के साधन-पाद अष्टांग-योग का वर्णन करते हुए 'प्रत्याहार' संज्ञा से उल्लेख किया है—

यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि ।

—२९ साधन-पाद पा० योग-दर्शन

अर्थात् यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि ये योग के आठ अङ्ग हैं ।

यहां पर हम प्रत्याहार के विषय में ही विचार करेंगे, यह अन्तर्मुखता का द्वार है । यहीं से हम शनैः-शनैः अन्तर्मुखी बनते चले जाते हैं और इन्द्रियों का व्यापार बन्द हो जाता है । देखिये भगवान पतञ्जलि प्रत्याहार के विषय में क्या कह रहे हैं—

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।

—५४ साधन-पाद पा० योग-दर्शन

अर्थात् इन्द्रियों का अपने-अपने मोहनीय रञ्जनीय तथा शोचनीय विषयों में प्रयुक्त न

होकर अपने कारणरूप चित्त में लय हो जाना प्रत्याहार कहलाता है।

इस सूत्र पर भगवान व्यासदेव जी की व्याख्या देखिये—

स्व विषयसंप्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजय वदुपायान्तरमपेक्षन्ते।

यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानि इत्येषः।

—साधन-पाद ५४

अर्थात् इन्द्रियां अपने-अपने विषयों में प्रयुक्त न होकर अपने कारण चित्त में लय हो जाती हैं, बहिर्मुखी नहीं रहती हैं। चित्त के निरोध में चित्त की तरह इन्द्रियां भी निरुद्ध हो जाती हैं। इन्द्रियों का अपने कारण में लय हो जाने के कारण चिन्मय चितिमात्र ही शेष रहती है। इस स्थिति में चिति के चिन्मय स्वरूप का चिन्तन करने वाली वृत्ति ही शेष रहती है। अतः इन्द्रियजयता प्राप्त हो जाती है। इन्द्रियजय के लिए अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं रहती है।

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्

—साधन-पाद ५५

अर्थात् इस प्रत्याहार का परिणाम यह निकलता है कि पूर्ण इन्द्रियजयता मनुष्य को प्राप्त हो जाती है और मनुष्य चिन्मयस्वरूप के अनन्त सुख का लाभ करने लगता है।

जगदात्मा श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में सरल शब्दों में प्रत्याहार को स्पष्ट कर दिया है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे,
रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ-
ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

—अध्याय ३/३४

अर्थात् इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में राग और द्वेष है, वह किसी से राग करती है तो किसी वस्तु से द्वेष। किन्तु साधक को उनका अनुकरण नहीं करना चाहिए। वह किसी विषय में न राग करे और न द्वेष ही।

मनुष्य जब राग एवं द्वेष से रहित हो जायेगा तो निश्चय ही उसकी चित्तवृत्तियां क्षय होती चली जायेंगी और वह साधक चिति में लय होकर चिन्मयरूप होकर बाद में अपने स्वरूप में स्थिर हो जायेगा, अनन्त-सुख लाभ करेगा। मनुष्य जन्म के फल को पाकर कृतार्थ हो जायेगा।

अध्यात्म —

अल्पभाषी बनो ?

■ श्री निर्मल

असंकीर्ण हृदय होकर भी अल्पभाषी बनो। अपने विषय में कुछ मत कहो, परन्तु दूसरों को जितना वे चाहें उतना कहने दो। सबसे अच्छा यह है कि किसी बात को सुनकर अपने क्रोध को न भड़कने दो और चुप रहो।

× × × ×

जहां तुम्हारे बोलने की आवश्यकता न हो, न बोलो। अन्यत्र तुमको कुछ बोलने का अवसर मिल सकता है।

× × × ×

आदमी के परखने से बढ़कर कोई उपयोगी बात नहीं है। जिस आदमी के साथ या जिसकी अधीनता में तुमको काम करना पड़े उसको खूब जांच लो। किसी को किसी काम पर नियुक्त करने से पहले उसको अच्छी तरह जान लो। यदि किसी की ओर से शङ्का हो तो उसे नियुक्त न करो और यदि नियोजित करो तो उस पर सन्देह न करो।

× × × ×

परिणामदर्शी बनो। अपनी गुप्त बात को किसी पर प्रकट न करो। यदि अपनी बातको तुम गुप्त नहीं रख सकते तो दूसरों से कैसे ऐसी आशा कर सकते हो। "बुद्धिमान् मनुष्य का मुख उसके अन्तःकरण में है और बुद्धिहीन का अन्तःकरण उसके मुख में है।"

× × × ×

अपने मस्तिष्क से काम लो, युक्ति के साथ विचार करो। यदि तुम ऐसा करोगे तो तुमसे कम भूल होगी।

× × × ×

बोलना चांदी है तो चुप रहना सोना। बहुत से मनुष्य इसलिए नहीं बोलते कि उनको कुछ कहना है, किन्तु केवल इसलिये कि उनको बातचीत करने का शौक है।

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

अयत्नेन यथा बाल इतश्चेतश्च योज्यते ।
भावैस्तथैव चेतोऽन्तः किमिवात्राऽस्ति दुष्करम् ॥

जैसे बालक लाड़-प्यार और भयसे किसी प्रयत्न के बिना इधर-उधर जहां चाहो वहां लगाया जा सकता है, वैसे ही चित्त भी शमदम आदि उपायों से जिधर चाहो उधर लगाया जा सकता है; इसलिए चित्त पर विजय प्राप्त करने में कौन-सी कठिनाई है?

× ×

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः ।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते ॥

विद्वान निराहार रहकर और रसेन्द्रिय को छोड़कर इन्द्रियों को शीघ्र जीत लेते हैं, किन्तु निरन्न पुरुष का (जिसने अन्न छोड़ रखा है) रसेन्द्रिय बढ़ता है।

× × ×

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान् ।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥

पुरुष दूसरे इन्द्रियों को जीतकर भी तब तक जितेन्द्रिय नहीं होता, रसेन्द्रिय को जब तक नहीं जीत लेता। इसके जीत लेने से सब पर विजय प्राप्त हो जाती है।

× × ×

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम् ।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोषप्रकोपकम् ॥

बुद्धि, धृति और स्मृति के नष्ट होने से वह मनुष्य जिन अशुभ कर्मों को करता है उसको प्रज्ञापराध अर्थात् बुद्धि का दोष कहते हैं।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥

जब मनुष्य का आहार शुद्ध हो जाता है, तो उसका (सत्त्व) अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तो स्मृति अटल हो जाती है और फिर (भूमा-आत्मा की) स्मृति पक्की हो जाती है तब सारी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।

× × ×

गोक्षीरमनभिष्यन्दी स्निग्धं गुरु रसायनम्।
रक्तपित्तहरं शीतं मधुरं रसपाकयोः॥
जीवनीयं तथा वातपित्तघ्नं परमं स्मृतम्॥

गौ का दूध अभिष्यन्दी नहीं (रसवहा नाड़ियों को नहीं रोकता), स्निग्ध है, भारी रसायन है, रक्त-पित्त को दूर करता है, शीतल है, रस में और विपाक में मीठा है। जीवनदाता है, वायु और पित्त को शान्त करने वाला है।

× × ×

कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति,
कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्तकषायाः पुनरेनं शमयन्ति।
मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति॥

कटु, तिक्त, कषाय—वात को पैदा करते हैं। मधुर, अम्ल, लवण—वात का शमन करते हैं। कटु, अम्ल लवण—पित्त को पैदा करते हैं। मधुर, तिक्त, कषाय—पित्त को शान्त करते हैं। मधुर, अम्ल, लवण—श्लेष्म, को पैदा करते हैं। कटु, तिक्त, कषाय—श्लेष्मा को शान्त करते हैं।

× × ×

मनः सृजति वै देहान्गुणान्कर्माणि चात्मनः।
तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संस्तुतिः॥

एकमात्र मन ही इस आत्मा के लिए देह, गुण तथा कर्मादि की रचना करता है और उस मन को माया रचती है। उस मायारूपी उपाधि के कारण ही जीव को जन्म-मरण-रूपी संसार प्राप्त होता है।

आदर्श गुरु-भक्त ला० खुशीराम अग्रवाल

[श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से]

धन्य माता-पिता धन्यः
धन्यं सर्वकुलं तथा ।
धन्याश्च वसुधा देवि,
गुरु-भक्ति सुदुर्लभा ॥

दुर्लभ गुरु-भक्ति-परायण पुरुष की माता धन्य पिता धन्य तथा उसका सारा कुल धन्य है और उसकी जन्म-भूमि भी धन्य है।

उपर्युक्त श्लोक ला० खुशीराम पर पूर्णतः चरितार्थ होता है। ला० खुशीराम वास्तव में खुशीराम थे और एक आदर्श गुरु भक्त थे। जहाँ पर गुरु-भक्तों की चर्चा चलती है वहां मुझे अपने बड़े गुरु-भाई ला० खुशीराम की स्मृति आये बिना नहीं रहती। यह एक आदर्श गुरु-भक्त थे। गुरु-भक्तों की क्या गति होती है, यह इनकी अन्त समय की घटना से स्पष्ट हो जाता है, जिसका उल्लेख करना ही इस लेख का मुख्य विषय है।

लाला खुशीराम जी विशेष पूजापाठी तो नहीं थे, किन्तु उनके रोम-रोम में गुरु-भक्ति पूर्णरूपेण भरपूर थी। वे अपने गुरुदेव की सेवा में हमेशा तत्पर रहा करते थे और गुरुदेव जी के विरोधियों को करारा जवाब भी इनसे प्राप्त होता था।

मैंने परमपूज्य अपने गुरुदेव जी के श्री मुखारविन्द से सुना है कि ला० खुशीराम में जहां यह गुण विद्यमान था वहां वे एक पत्नी-व्रती भी थे। परम पूज्य गुरुदेव जी के श्री चरण-कमलों के साथ ला० खुशीराम जी के स्वर्गवास के पश्चात् मुझे भी उनके पवित्र गांव में जानेका शुभावसर प्राप्त हुआ, वहां मैंने ला० खुशीराम जी के गुणों की चर्चा सुनी। उन गुणों में यह गुण भी उनमें विशेष पाया गया कि वे किसी भी बात को सत्य-सत्य ही कहा करते थे। ग्रामवासियों के मुख से मैंने सुना है कि ला० खुशीराम जी को कोई भी फैसला करना पड़ता, तो वे सत्य-सत्य न्याय करते, चाहे उनकी बात कोई माने या न माने। अधिकतर सत्य पर आधारित बातोंको मानना ही पड़ता था। इस प्रकार इनके अन्दर इन तीन गुणों का निवास पूरी तरह से था।

१—अपने गुरुदेव में अनन्य निष्ठा।
२—एक पत्नी-व्रती होना।
३—सत्य व्यवहार करना।

इन तीन गुणों के होने में पहला गुण मुख्य है क्योंकि मैं समझता हूँ कि गुरु-भक्त वही है, जो कम से कम इन तीन गुणोंको अपने जीवन में उतार ले।

लाला खुशीराम का जीवन इसी प्रकार चलता रहा। आखिर मृत्यु का समय असमय में ही आ गया। इनके माता-पिता जीवित थे और बाल-बच्चों से परिवार भरपूर था। लाला खुशीराम जी वास्तव में खुशीराम ही थे। इनको अपनी मृत्यु का पहले ही ज्ञान हो चुका था, इसलिए अपनी माता जी से इन्होंने अपने चलने की बात पहले से ही कह दी।

अब मृत्यु बिल्कुल निकट थी, केवल चार दिन शेष थे। इनको कुछ मामूली बुखार की शिकायत हुई। मन में अनन्त श्री गुरुदेव जी का स्मरण रहने लगा। मन चाहता था अपने प्राणाधार श्री गुरुदेव जी के दर्शन एक बार फिर कर लूँ। इसी उद्देश्य से एक व्यक्ति को पूज्य श्री गुरुदेव जी के पास उन्हें बुलाने के लिए भेज दिया। उस व्यक्ति ने पूज्य गुरुदेव जी से समाचार पूछने पर कहा—वह खास बीमार तो है नहीं, मामूली बुखार है। होन-हार बलवान थी। पूज्य गुरुदेव जी ने सोचा, मामूली बुखार है ठीक हो जायगा, कोई बात नहीं। आश्रम से उस व्यक्ति के साथ मेरे बड़े गुरु-भाई ब्रह्मचारी श्री लक्ष्मीनारायण को अलुपुर खुशीराम के यहां भेज दिया और वहां जाकर सूचना देने को कहा।

इधर ला० खुशीराम को दिव्य दृश्य सामने आने लगे। ये अपनी माता जी से कहते—मां! तू देखती नहीं, ये देवी-देवता स्वर्ग से चलकर हमारे घर आये हैं इनको बैठाओ। देखो ये श्रीकृष्ण सामने खड़े हैं, कैसी सुन्दर गायें हैं, बंसी बजा रहे हैं। देख मां! तू इनको बैठालती क्यों नहीं? मां भोली-भाली गांव की रहने वाली सीधी-सादी देवी थी। उसे इन बातों का क्या ज्ञान था? वह तो केवल सुन ही सकती थी।

लाला खुशीराम का आज अन्तिम दिन था। एकादशी तिथि थी, मृत्यु का समय तेजी से आता जा रहा था। भाई लक्ष्मी-नारायण जी भी पहुंच चुके थे, किन्तु गुरुदेव जी को न देखकर ला० खुशीराम जी बहुत कष्ट में आये। अब इनको एक विमान नजर आया, जिसको भगवान श्री विष्णु के पार्षद लिये हुए थे। ला० खुशीराम अपने प्रत्येक दृश्य को अपने परिवार वालों को बताते जा रहे थे। वे कह रहे थे—ये चार भुजाओं वाले एक जहाज लेकर आये हैं और मुझसे कह रहे हैं—आओ इसमें बैठो। लेकिन मां! मैं इस जहाज में बैठकर नहीं जाऊंगा। यह कहकर ला० खुशीराम चुप हो जाते और उनका प्राण ब्रह्मरन्ध्र से टकराता, फिर कहते—मां! तू खाल फोड़ दे, मैं ऊपर से जाऊंगा, मैं जहाज में नहीं आता। ला० खुशीराम फिर चुप हो जाते और उनका प्राण फिर ब्रह्मरन्ध्र

से टकराता। फिर कहते—माँ! तू छत नहीं फोड़ती, मैं ऊपर से चला जाता। उनका यह क्रम कई बार चला, किन्तु अनुष्ठान तपस्या न करने के कारण प्राण ब्रह्मरंध्रको न छेद सका।

उनकी भोली माँ छत फोड़ने को क्या समझती। उसने ला० खुशीराम से कहा—भाई! ऊपर चौबारे में ले चल, किन्तु यह तो माजरा ही दूसरा था। यदि कोई समझता भी, तो भी कर ही क्या सकता था? मृत्यु की वह घड़ी आ ही गई और ला० खुशीराम कहने लगे—माँ! देख तूने छत नहीं फोड़ी। ये जहाज वाले और ये कह रहे हैं कि इसमें बैठ जा। देख माँ! अब इस जहाज में श्रीकृष्ण भी आ गये और वे भी कह रहे हैं। लाला खुशीराम आजा! मेरे पास यहाँ आजा!

इस प्रकार बताते हुए ला० खुशीराम कहते हैं—लो फिर जब श्रीकृष्ण भी जहाजमें आ गये और मुझे बुला रहे हैं। और श्री प्रभुजी की भी आज्ञा हो गई। इसलिये अच्छा लो फिर फिर इस जहाज में ही बैठ लूँ। यों कहते हुए इन आदर्श गुरु-भक्त ने अपने प्राणों का उत्कर्ष आँखों द्वारा कर दिया और गोलोक-धाम पाया। यह सब केवल गुरु-भक्ति का ही कारण था। तपस्वी बड़े-बड़े तप करते हैं। तरह-तरह के अनुष्ठान करते हैं, जीवन-पर्यन्त अनेकों शुभ-कार्यों में लगे रहते हैं। किन्तु इस प्रकार की गति उनको भी प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार की गति केवल मात्र गुरु-भक्ति का ही मुख्य कारण है। गुरु-भक्ति के विषय में स्वयं भगवान सदाशिव ने इस प्रकार कहा है—

विद्या धन मदेनैव,
मन्द भाग्याश्च ये नरः।
गुरोः सेवां न कुर्वन्ति,
सत्यं-सत्यं वदाम्यहम्॥

जो विद्या धन के मद से श्री गुरुदेव जी की सेवा नहीं करता। हे देवी! सत्य ही सत्य कहता हूँ कि वह मन्द भाग्य है।

संसार के सभी तीर्थों आदि का फल केवल गुरुदेव के चरणोदक के एक सहस्रवें भाग के बराबर बताते हुए निम्न श्लोक कहा है—

सप्त सागर पर्यन्त,
तीर्थस्नान फलं भवेत्।
गुरोरङ्घ्रि जलाद्बिन्दु,
सहस्रांशेन दुर्लभम्॥

श्री गुरुदेव महिमा बताते हुए योगाधीश भगवान सदाशिव ने एक अत्यन्त ऊँची बात कह दी। वह यह कि—

न गुरोरधिकं तत्वं,
न गुरोरधिकं तपः।
गुरोः ज्ञानात्परं नास्ति,
तस्मै श्री गुरवे नमः॥

श्री गुरुदेव के स्वरूप ज्ञान से परे कोई तत्व नहीं और श्री गुरुदेव के तत्व-ज्ञान से परे कोई तप नहीं। ◉◉

पश्चिमियों की ईश्वर-परक दृष्टि

★ श्री राघवेन्द्र तिवारी

ईश्वर वह अति-भौतिक सत्ता है, जिसे हम आत्मन् कह सकते है, जो हमारे भाग्य पर नियंत्रण करती है तथा यदि हमारा मानसिक भाव तथा चरित्र ठीक है तो हम उससे तादात्म्य भी स्थापित कर सकते है।

ईश्वर को इन रूपों में प्राप्त किया जा सकता है—

(१) आदि कारण के रूप में (२) अन्तिम बुद्धि के रूप में (३) चरम अथवा निरपेक्ष तथा निरुपाधि अथवा प्रकरण के रूप में (४) अनंत तथा नित्य (५) चरम आत्मन् अथवा व्यक्तित्व के रूप में (६) नैतिक शासक के रूप में (७) आदर्शों के स्रोत के रूप में।

ईश्वर केवल अनन्त, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान शक्ति ही नहीं है वरन् आदर्श मूल्यों का स्रोत भी है। ईश्वर केवल इस अर्थ में ही स्रष्टा नहीं है कि वह संचालक-कारण अथवा उद्विकासवादी प्रेरणा है वरन् क्रियात्मक होने के रूपमें पूर्ण कारक है। ईश्वर सम्बन्धी कुछ विचारकोंके मत को प्रस्तुत कर रहा हूँ—

१. प्लेटो —

ईश्वर को शुभ का प्रत्यय मानता है, पारमार्थिक जगत् में प्रत्ययों आदि रूपों सामान्यों या प्रतिमानों की सत्ता का ईश्वर कहलाता है, किन्तु प्लेटो ईश्वर के साथ पुद्गल को भी मानता है जोकि हिन्दू संस्कृतिसे पृथक् है।

२. अरस्तू —

ईश्वर को आदि गति-दाता, गति-दाता, विशुद्ध-क्रिया, पुद्गल से शून्य, विशुद्ध आकार अनित्य चिंतक मानता है। अरस्तू ने पुद्गल को माना तो है किन्तु ईश्वर के सापेक्ष नहीं, जगत का उपादान-कारण कहा है, किन्तु थोड़ी भिन्नता यहां भी परिलक्षित है। अरस्तू ईश्वर को जगत् का निमित्त-कारण, उसको आकार देकर पुष्ट करने वाला एवं उससे अपना प्रयोजन करने वाला मानता है, अरस्तू भगवान की उन महत्-संतारणाओं को सोच नहीं पाया, जिस पर ईश्वर का सार्वभौमीकरण होता है।

३. स्टोइकों—

इसने ईश्वर को विधाता, सार्वभौम-बुद्धि, जोकि विश्व में व्याप्त है तथा मनुष्य के भाग्य का नियामक है, बताया है, इसका अभिमत भारतीय दर्शन के सर्वथा निकट है।

४. प्लोटिनस —

ईश्वर को दृश्य वस्तुओं और सभी प्रत्ययों से श्रेष्ठ एक अनिर्वाच्य सत्ता मानता है। इसके अनुसार ईश्वर सत्य, शिव और सुन्दर है, सत्य, शिव और सुन्दर ईश्वर नहीं है, वह बुद्धि और विचार का मूल है, किन्तु इनसे है पृथक् ही। वह शान्ति, स्थैर्य और परम सन्तोष है। लोकोत्तर, अपरोक्ष अनुभूति ही उसको जानने का साधन है, वह अनुभवातीत निर्गुण, निर्विकार और व्यक्तित्वहीन है।

५. डेकार्ट—

ईश्वर को ऐसा द्रव्य मानता है जो अनन्त, नित्य, अपरिणामी, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है तथा जिसने मुझे और सारी दुनिया को रचा है।

६. स्पिनोजा—

ईश्वर को एक ऐसा पदार्थ मानता है जो बुद्धि-कृति और अन्य वैयक्तिक गुणों से रहित है, उसके तर्क में, विचार और विस्तार ऐश्वरीय गुण हैं किन्तु इन्हें हम ईश्वर पर आरोपित कर सकते, क्योंकि एक गुण की स्थापना शेष गुणों की निषेधना है। उसके अनुसार काल-परिवर्तन और प्रगति मिथ्या है।

७. लाइबनिट्ज़—

ईश्वर को दैवलोक का सम्राट, प्राकृतिक और नैतिक जगत् को आपस में मिलाने वाला मानता है।

८. फिश्टे—

ईश्वर को वह चरम-आत्मा मानता है, जिसने आत्म-निषेध के द्वारा आत्म-स्थापन किया है और परिच्छिन्न आत्मा और अनात्माओं को पैदा किया है। ईश्वर सार्वभौम नैतिक इच्छा, नैतिक नियम या स्वातन्त्र्य है।

९. शैलिंग—

ने एक ऐसे निरपेक्ष, चरम या ब्रह्म की कल्पना की जो अनुभव-रूप है अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय तथा आत्मा और अनात्मा इत्यादि द्वैतों से परे है। इसके अनुसार ईश्वर एक उच्चतर इकाई है तथा वह अपेक्षा है, जिसका ज्ञान बौद्धिक प्रज्ञा से होता है।

१०. हेगेल—

ईश्वर को चरम-प्रत्यय मानता है अथवा सार्वभौम बुद्धि मानता है, जो कि अनन्त और नित्य आत्म-चेतना है तथा प्रकृति में ससीम-जीवात्माओं और समाज में विभिन्न मात्राओं में अभिव्यक्त होता है। जो वास्तव में एकत्व भेद में अभेद एवं विश्वातीत और विश्व व्याप्त है।

११. हैमिल्टन और मैन्सेल—

इसने ईश्वर को निरुपाधि और सम्बन्धों से परे अज्ञेय, अचिन्त्य और अकल्पनीय माना है।

१२. हर्बर्ट-स्पेंसर—

यह ईश्वर को अज्ञात और अज्ञेय मानता है, उसकी दृष्टि में ईश्वर अनन्त, नित्य और अचिन्त्य शक्ति है जो जड़ और चेतनमें सर्वदा अभिव्यक्त है।

१३. ब्रैडले—

ईश्वर को निरपेक्ष अनुभव मानता है, जो सभी विवर्तों को अपनी एकता में आत्मसात करता है। ईश्वर वैयक्तिक गुणों से युक्त है जो उपासकों का उपास्य है। ईश्वर ब्रह्म का विवर्त है।

१४. रॉयस—

ईश्वर को निरपेक्ष आत्म-चेतनाकृति और प्रेम माना है, उसकी दृष्टि में ईश्वर और ब्रह्म भिन्न वस्तुयें नहीं। ईश्वर अतीत, भविष्यत् और वर्तमान को हस्तामलवत् देखता है। वह हमारे अनुभव और दोषों को जानता है पर दूर नहीं करता।

१५. लॉट्ज़े—

की-दृष्टि में ईश्वर एक असीम व्यक्तित्व है, उसने प्रेम के वशीभूत होकर जगत की रचना की। ईश्वर में अनन्त ज्ञान, शक्ति, प्रेम, पवित्रता और आनन्द है। वह कालातीत नहीं, काल का आधार है।

उपरोक्त परिभाषाओं में पश्चिमी दर्शनशास्त्रियों ने ईश्वर को अनुभूत किया है, जोकि भारतीय दर्शन के समान और अगम्य निरूपित है। हमें आशा है कि हमारे पाठक ईश्वर को अपने दृष्टिकोण से अनुभूत करेंगे। जिस रास्ते से ईश्वर का सायुज्य प्राप्त हो, वही सबसे बड़ा योग है। समाज एक उत्तरदायित्व है इसका निर्वाह करने वाला व्यक्ति नहीं ईश्वर है और व्यक्ति है उसके सक्रिय अवयव। ईश्वर मस्तिष्क का विज्ञान है, जो अध्यात्म के उपकरण से मापा जाता है तथा धर्म इसमें व्यय की जाने वाली इकाई है।

अतः हम कह सकते हैं कि ईश्वर मन का वह सन्दर्भ है, जिसके आधीन हम बौद्धिक शान्ति ग्रहण कर सकते हैं।

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान्रिपुः ।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुर्यं कृत्वा नावसीदति ॥

मनुष्यों के शरीर में रहने वाला आलस्य उसका सबसे बड़ा शत्रु है और पुरुषार्थ के बराबर कोई मित्र भी नहीं है, जिसके करते रहने पर मनुष्य दुख नहीं पाता।

—श्री भर्तृहरि

Sidhayoga Regd No. L. [illegible] 860

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक संपादक तथा संरक्षकः
योगिराज अनंत श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

ज्ञान का निरूपण

ज्ञान का निरूपण बुद्धि से ही समझना चाहिए, क्योंकि बिना बुद्धि के केवल आँखों से कभी दिखलाई ही नहीं पड़ सकता। परन्तु जब वह एक बार बुद्धि के द्वारा वह जान लिया जाता है और हम अभ्यास पर चढ़ जाते अपना प्रभाव जमाता है, तब वह इन्द्रियों की क्रियाओं के रूप में तत्वों को भी दिखाई देने लगता है। जिस प्रकार वृक्षों के हरे-भरे और मेघयुक्त होने से बसन्त के आगमन का पता चलता है, उसी प्रकार इन्द्रियों की अवस्था देखकर ज्ञान का भी अनुमान किया जा सकता है। वृक्ष की जड़ को पृथ्वी के गर्भ से भी पानी मिल जाता है और तब वह पत्तों डालियों के रूप में भी अपनी सरसता दिखलाता है अथवा पृथ्वी में रहने वाली मृदुता मुलायम अंकुरों को देखने से जानी जाती है अथवा कुलीन पुरुषों का महत्व उनके आचरण से ही समझ में आ जाता है। जब मनुष्य किसी का आदर-सत्कार करने में बहुत अधिक व्यस्त होता है, तब उसकी उसी व्यस्तता से उसका स्नेह प्रकट होता है अथवा शान्त और भव्य आकृति से मनुष्य के पुण्यशील होने का पता चलता है अथवा जब कपूर-कदली में कपूर भर जाता है, तब चारों ओर फैलने वाली सुगन्ध से ही इस बात का पता चल जाता है कि इसमें कपूर भर गया है अथवा कांच की कन्दील में रखे हुए दीपक का प्रकाश चारों ओर बाहर फैल जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य के हृदय में ज्ञान आकर स्थापित होता है तब बाहर भी उसके बहुत से चिह्न प्रकट होने लगते हैं।

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'निधि' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, [illegible] [illegible], आगरा-१